इदं पुस्तकं भावनगर्यां श्रेष्ठि-देवचन्द-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारसंस्थाया अवैतनिककार्यवाहक-मोतीचंद मगनभाई चोकसी इत्यनेन महोदयमुद्रणालये, दाणापीठमुद्रणमन्दिरे शा. गुलाबचंद लल्लुभाई-द्वारा मुद्रापितम् ।

Printed By Gulābchand Lallubhāi S'ha at the "Mahodaya Printing Press"
Dana Peetha, Bhāvnagar (Saurāshtra)

Published for Sheth Devchand Lālbhāi Jain Pustakoddhār Fund, at Sheth Devchand Lālbhāi Jain Boarding House For (S'ri Ratna Sāgar Jain Boarding) Badekhān chakla, Gopi-purā, Surat, by the Hon Managing Trustee Motichand Māganbhai Chokasi.



श्रेष्ठी देवचन्द लालभाई जव्हेरी

जन्म १९०९ वैक्रमाब्दे	निर्याणम् १९६२ वैक्रमाब्दे
कार्तिकशुक्लैकादश्यां (देवदीपावली-सोमवासरे)	पौषकृष्णतृतीयायाम् (मकरसंक्रान्ति-मंदवासरे)
सूर्यपूरे.	मोहमयीनगर्याम्.

The Late Sheth Devchand Lalbhai Javeri.

Born 22nd Nov. 1852 A. D. Surat, Died 13th January 1906 A. D Bombay.

Sheth Devchand Lālbhāi Jaina Pustakodhāra Fund Series: No. 103

Shree Das Vaikalik Sutra

By

S'ri Sayyambhavsuri

Commentry by

Shree Bhawvirhank Suri

Abridged by

Shree Sumati Sadhu Suri

Vikrama Saṁvat 2010]
Price Rs. 3-0-0
[Christian Era 1954

विपयसूची

णमो सिज्जंभवस्स

श्रेष्ठि-देवचन्द लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः १०३ ।

श्रीसुमति(साधु)सूरिविरचित लघुवृत्तिसहित—

दशवैकालिकसूत्रना अंगे

प्रकाशकीय-वक्तव्य



श्रमण भगवान् महावीर महाराजना पंचम गणधर श्रीसुधर्मास्वामीनी पाटे चरमकेवली श्रीजम्बूस्वामी थया, तेमना पट्टधर श्रीप्रभवस्वामी थया अने तेमने पोतानी पाटे श्रीशय्यंभवसूरिने स्थाप्या. तेओश्रीए पोताना पुत्र मनकने दीक्षा आपी अने तेनुं छ महिनानुं आयुष्य जोतां तेना उद्धार माटे श्रीदशवैकालिकनी रचना करी. ते आ श्रीदशवैकालिक उपर निर्युक्ति वगेरे छे. अने तेनी उपर भवविरहाङ्कित आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्रसूरीश्वर महाराजे शिष्यबोधिनी नामनी टीका रची हती. ते टीका उपरथी एकला ज श्रीदशवैकालिकमूळ उपरनी वृत्तिनो श्रीसुमतिसाधुसूरिए उद्धार कर्यो. ए वात लघुटीकाना अन्त्यपत्रमां जणावी छे. एटले आ ग्रन्थ श्रीसुमतिसाधुसूरिनी रचेली लघुवृत्ति सहितनो श्रीदशवैकालिकसूत्रनो छे.

ग्रन्थकर्त्ताए आ ग्रन्थनु भवविरहाङ्कित श्रीहरिभद्रसूरीश्वरमहाराजनी वृत्तिने अनुसरवापणु जणाव्यु छे, पण तेओश्रीए आ ग्रन्थ क्यारे रच्यो तेनो स्पष्ट उल्लेख नथी, परंतु आ ग्रन्थना छेडे बे पुष्पिकाओ आपी छे ते उपरथी एक वात चोक्कस थाय छे के–आ ग्रन्थ सं १५१६ पहेला थयेलो छे वळी "जैन साहित्यनो इतिहास" पृ २५२ मां जणाव्या प्रमाणे–संवत ११८८ मां पत्तनमा वाचक शि० सुमतिसूरिनी रचेली श्रीदशवैकालिकटीका ताडपत्र पर लखाइ

प पू बहुश्रुत, आगममंदिरानां संस्थापक आगमवाचनाना दाता, अनेक ग्रन्थना प्रणेता, आगमोद्धारक गुरुदेव श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजी महाराजे आ संस्थानो प्रादुर्भाव कर्यो हतो अने तथी आ संस्थाए–श्रेष्ठि देवचन्द लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फंडे अनुक्रमे आगमो विगेरेना १०२ ग्रन्थो आज सुधी बहार पाड्या छे, तेवी रीते आ ग्रन्थ १०३ नंबरमा बहार पाडे छे.

प. पू आगमोद्धारक गुरुदेवश्रीनी इच्छा अवचूरि वगेरे लघु टीकाओ आबालोपयोगी बहार पाडवानी हती, तेथी आ संस्थाए ते कार्य पण आरंभ्यु अने तेवा ग्रन्थोमा आ ग्रन्थनी प्रेसकॉपी प. पू गुरुदेवश्रीनी सेवा करनार पू गुणसागरजी महाराज पासेथी मेळवी अने संपादन करवाने माटे मुनि श्रीकंचनविजयजी तथा मुनि श्रीक्षेमंकरसागरजी महाराजने विनति करी अने तेओश्रीए अमारी विनतिने ध्यानमा लई गुरुदेवश्रीना पट्टधर श्रुतस्थविर, विद्याव्यासंगी, आचार्यमहाराज श्रीमाणिक्यसागरसूरीश्वरनी पासे एक वखतनुं प्रूफ जोवडाववापूर्वक आ ग्रन्थनु संपादन कर्युं छे. अने आ ग्रन्थने शणगारवा माटे लघु अने बृहत् विषयानुक्रम अने सूत्रादि अकारादिक्रम वगेरे आठ परिशिष्टो आप्यां छे आ श्रीदशवैकालिकसूत्र संबंधमा संपादकीय निवेदन पण मननीय छे छतां तेना साहित्य अंगे कंईक विवरण अत्रे आपवामा आवे छे.

श्रीदशवैकालिकसूत्रनी गणना (त्रीजा) मूल सूत्रमां थाय छे. श्रीदशवैकालिकसूत्रना कर्ता श्रीशय्यंभवसूरि (सुधर्मास्वामीना शिष्य जंबूस्वामीना शिष्य प्रभवस्वामीना शिष्य) छे.

श्रीदशवैकालिकसूत्र प्राकृतमां श्लो. ७०० प्रमाण छे. तेमने पोताना पुत्र मनकना टूंका आयुष्यने जाणीने तेना माटे आ सूत्र बनाव्युं. तेमां साधुना आचारना विषयोनो संग्रह छे. आ सूत्रमां दश अध्ययन छे. तेमां पण चार अध्ययनो तो जरुर साधुए भणवां ज जोइए. श्रीदशवैकालिकसूत्रना अंते ' रतिवाक्या ' अने ' विविक्तचर्या ' नामनी वे चूलिका छे. ते महाविदेह क्षेत्रमां विचरता सीमंधरस्वामीए आपेली छे, जे साधु मुनिमहाराजाओने संयममां स्थिर करे छे. 'श्रीदशवैकालिक सूत्र' उपर भद्रबाहु स्वामीनी निर्युक्ति गा. ४४५ श्लोक ५५० प्रमाण छे. वळी भाष्य पण छे.

श्रीदशवैकालिकसूत्र उपर ७००० श्लोकप्रमाण चूर्णि छे. श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजीनी पेढी–रतलाम तरफथी प्रकाशित थयेली छे. तेना कर्ता जिनदासगणिमहत्तर छे. आचार्य श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजी संशोधित छे. श्रीदशवैकालिकसूत्र बृहद्वृत्ति आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिजीए ७५५०, ६८५० (श्लोकसंख्या भिन्न जाणवामां आवी छे.) श्लोकप्रमाण टीका रची छे ते मूल, निर्युक्ति ने भाष्य उपरनी छे. ते समग्र बृहद्वृत्ति साथे आ ज फंड तरफथी प्रकाशित थयेली छे. ते आचार्य श्रीआनन्दसागरसूरिजी संशोधित छे. श्रीदशवैकालिकसूत्र उपर श्रीतिलकाचार्ये संवत् १३४६ मां ७००० श्लोकप्रमाण वृत्ति रची छे. ते पाटण वगेरे स्थळे छे. वृत्ति अप्रसिद्ध छे. सं. १६९१ मां उपाध्याय श्रीसमयसुंदरजीए ' शब्दार्थवृत्ति ' नामनी टीका रची छे. श्रीजिनयशःसूरि ग्रंथमालामां छपाई छे. श्लोकप्रमाण ३०३३ प्रमाणनी छे. श्रीदशवैकालिकासूत्र उपर 'लघुवृत्ति' २६०० (३६००) श्लोकप्रमाणनी

' सुमतिसूरि 'ए रची छे, जे आ प्रकाशित करी रह्या छीए वली एक लघुवृत्ति अचलगच्छीय विनयहंसगणीए संवत् १५७२ मां २१०६ श्लोकप्रमाण रची छे ते अप्रसिद्ध छे अने ते खंभातमां ताडपत्रीय उपर श्रीशांतिनाथनी ज्ञानभंडारमा छे

श्रीदशवैकालिकसूत्र उपर त्रण अवचूरिओ छे तेमा पहेली शांतिदेवकृत छे ते पाटणना ज्ञानभंडारमा छे, वली बीजी १८०० श्लोकप्रमाणनी छे ते पाटण, खंभात अने पूनाना ज्ञानभंडारोमा छे त्रीजी १५०० श्लोकप्रमाणनी छे ते लींबडीना ज्ञानभंडारमा छे कर्तानी माहिती मळी नथी त्रणे अप्रसिद्ध छे श्रीदशवैकालिकदीपिका श्रीमाणिक्यशेखरसूरिकृत मोटी छे, जे अमदावादना ज्ञानभंडारमा छे ने अप्रसिद्ध छे

श्रीदशवैकालिकसूत्रनो टब्बो (बालावबोध) गु अनुवाद, हिन्दी अनुवाद तथा जर्मन इंग्लीश अनुवाद पण छे आ सूत्रनु मूळ तथा निर्युक्ति श्रीवर्धमानजैनागममंदिरमां पालिताणामा शिलारूढ थयेल छे अने सुरतमा श्रीवर्धमानजैनताम्रपत्रागममंदिरमा एकलु मूळ ताम्रपत्रारूढ करवामा आव्यु छे

विनंती–संशोधक मुनिवर्योने आगम पंचागीना अप्रगट ग्रंथोनु संशोधन करवा फंड तरफथी विनंती करीए छीए अने जेओश्री पासे अप्रगट आगम पंचागीना ग्रंथोनी प्रेसकॉपीओ अथवा प्रतो होय तो तेना नामो जणाववा विनवीए छीए जेथी फंड तरफथी प्रकाशित करवा योग्य प्रबंध करीए.

आ ग्रन्थना प्रकाशनमां जेवा जेवा रूपे जेओ जेओश्रीए अमने सहाय करी छे ते बदल अमो ट्रस्टीओ आ फंड तरफथी

तेओश्रीनो आभार मानीए छीए. अने विद्वानोने ए प्रार्थना करीए छीए के अमारा प्रकाशनमां अमने योग्य संपादन वगेरेनी मदद करे. तेमज आ ग्रन्थना अभिलाषीओ अमारा प्रकाशित करेला ग्रन्थनो उपयोग करे.

लि० भवदीय

मोतीचंद मगनभाई चोकसी वगेरे

संस्थाना ट्रस्टीओ

वि. सं. २०१० भादरवा शुद १
(महावीर जन्म वांचन महिमादिन)
ता. २९ ओगष्ट १९५४,
मुंबई.

ता. क.—आ ग्रंथ घणा समयथी प्रेसमां चालु हतो अने प्रसिद्ध थाय ते दरम्यान उपरोक्त फंडना एक मुरब्बी ट्रस्टी शेठ साकेरचंद खुशालचंद झवेरी स्वर्गवास पाम्या छे तेनी दीलगीरी साथे नोंध लेवामां आवे छे अने तेमनी खाली पडेली जग्याए श्रीकेशरीचंद हीराचंदने नीमवामां आव्या छे. जे मुजब ट्रस्टी मंडळनां नामोमां फेरफार करवामां आव्यो छे (पा. ४).

णमो सिरिदसकालियसुत्तकारगस्स मणगपियरस्स

श्रीसुमतिसाधुसूरिविरचित लघुवृत्तिसहित—

श्रीदशवैकालिकसूत्रना अंगे

सम्पादकीय-निवेदन

" सिज्जंभवं गणहरं जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं । मणगपिअरं दसकालिअस्स निज्जूहगं वन्दे ॥ "

श्रीदेवगुरुप्रतापे संपादित करेल श्रीदशवैकालिकसूत्र विद्वज्जनोना करकमळमां सादर उपस्थित करतां ग्रन्थ, वृत्ति अने संपादन संबंधी कंईक जणाववाय छे.

जेम समुद्र तरवा माटे पार ऊतरवाना मार्गना जाणवापणुं अने पार ऊतरवाना प्रयत्ननी—गतिनी जरूर छे, तेम आ जैनशासन भवसमुद्रथी पार ऊतारवा माटे संलग्न बे मार्गनुं सहकारीपणु स्वीकारे छे. ते बे मार्ग ज्ञान अने क्रिया. अर्थात् एकलुं ज्ञान पण नकामुं माने छे अने एकली क्रिया पण नकामी माने छे. ज्ञानीनी निश्राए क्रिया करनारो अगर क्रियावाळो ज्ञानी एम बन्ने माने छे. एटलुं ज नहि पण ज्ञान करतां क्रिया उपर सापेक्ष रीते वधु भार मूके छे. क्रिया वगरना ज्ञाननी कंईज कीमत आंकी नथी. अर्थात् विरतिनी जरूरियात मानी छे. आथी ज गृहस्थपणामां केवली थयेलाने पण देवता वेष अंगीकार कर्या पछी वंदन करे छे. आ

कारणथी लिंगनी महत्ता नक्की थाय छे.

परंतु विरतिने मेळववा, टकाववा अने यथोत्तर सफल बनाववा ज्ञाननी पण जरूर छे, केमके संयम-जयणाना पालन माटे
बोधनी जरूर, ते बोध आगमोद्वारा मेळववानो अने ते मेळववा मनुष्यपणुं आदि जोइए. तेवो मनुष्य भव पण प्राप्त थया छतां
आर्य क्षेत्र आदि मळवुं जोइए. अने ते पण मळी गया छतां दीर्घ आयुष्य जोइए. जो ते न होय तो मळेलां साधनो ने अनुकूल
संयोगोमां पण ते साधी शकतो नथी. आथी दीर्घ आयुष्य पण जोइए. जो दीर्घ आयुष्य न होय तो शुं थाय ? ते वात
आ सूत्रना रचनाना प्रसंगमांथी समजवा मळे छे. एटलुं ज नहि पण ते हेतुथी ज आ सूत्रनी रचना करवानी जरूर पडी.

भगवान् प्रभवस्वामीए पोतानी पाटे अर्थात् शासन चलाववाने माटे योग्यने माटे उपयोग मूक्यो. कोई तेवो न मळवाथी ते
उपयोग अन्ते राजगृहीमां यज्ञ करता शय्यंभव भट्ट उपर जईने ठर्यो. एथी 'अहो कष्टं' आदि साधुद्वारा यज्ञमां बोलाव्युं. शय्यंभवे
तलवारद्वारा गुरुने पूछ्युं. गुरुए तत्त्व तो यज्ञस्थंभ नीचे बताव्युं. त्यां श्रीशांतिनाथजीनी प्रतिमा देखी, बोध पामी, आचार्यश्री-
प्रभवस्वामी पासे दीक्षा लीधी. त्यारे रुदन करती तेमनी पत्नीने लोको पूछे छे के छे कंइ ? तेना जवाबमां 'मनाक्=कंईक' कह्युं.
ते ज गर्भना पूर्णकाले जन्मेला पुत्रने 'मनक' नामथी बोलाव्यो. छोकराने रमतमां 'नबापो' शब्दथी बाप पासे गयेलो ते बाप
शय्यंभवसूरिने बाहिरभूमिए मळ्यो. पछी दीक्षा आपी. तेने आ भवना संबंधथी भवसमुद्रथी पार उतारवा आयुष्य माटे उपयोग
मूक्यो. त्यां तो सागर ने गागरनुं आंतरुं जोयुं. अल्प ज आयुष्य (छ महिनानुं आयुष्य)। शुं करवुं ? भवसागर तरवा शास्त्रसागर जोइए.
त्यां तो आयुष्यनी गागर छे. शुं करवुं ? आथी शास्त्रसागरनुं मंथन करी गागरमां माय तेवी सागरतरणी गागर(दशवैकालिक)नी

रचना करी-मनकना हित माटे. अर्थात् हे प्रभु ! भवसमुद्रथी तारनार सारां आगमो छे. ते कारणथी आनी रचना थई एम निर्युक्तिमां (द० नि० गा० १५) जणाव्युं छे. मनक मुनि तेने भण्या अने छ महिने काळ पण करी गया (नि० गा० ३७१), आंसु आव्यां. श्रमण भगवंतोए पूछ्युं-आ शुं ? बधी वात जणावी (नि० गा० ३७१). अमने कह्युं होत तो वैयावच्च करत. महानुभावो ! ते तरत शी रीते ? माटे नथी कह्युं.

गागर आयुष्यवाळाना काळ कर्या बाद, ज्यारे गागरने सागरमां मेळववा मांडी त्यारे श्रमण भगवंतोए विनंति करी. आथी ते गागर रहेवा दीधी (नि० गा० ३७१). ते आ श्रीदशवैकालिक शासनना छेडा सुधी रहेवानुं छे. पीस्तालीश आगममां मूळ चार गणाव्यां तेमां आनो पण एक नंबर आवे छे.[1]

शास्त्र—आ शास्त्रमां दश अध्ययनो छे अने तेनी उपर बे चूलिकाओ पण छे. अस्वाध्यायनो काल छोडीने भणवानुं होवाथी अने नि० गा० १५ ना आधारे विकाले आ सूत्रनी स्थापना अने दश अध्ययनना प्रमाण उपरथी दशवैकालिक-दशकालिक कहेवाय छे.

आ श्रीदशवैकालिकना अंगे नीचे प्रमाणे साहित्य उपलब्ध छे—

दशवैकालिक मूल	शय्यंभवसूरि	श्लोक ७००	दशवैकालिक चूर्णि		श्लोक ७०००
,, निर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी	,, ४४०	,, वृत्ति	हरिभद्रसूरि	,, ७०००

1 जुओ श्रीआगमपुरुष अने मुनिराज श्रीअभयसागरजीनी रचेली श्रीआगमपुरुष रहस्यनी पुस्तिका

दशवैकालिक	लघुवृत्ति सुमतिसूरि	श्लोक ३५००	दशवैकालिक	शब्दार्थवृत्ति समयसुंदर श्लोक २०३३
,,	अवचूरि शान्तदेव		,,	निर्युक्त्यवचूरि
,,	अवचूरि	,, १८००	,,	वृत्तिदीपिका माणिक्यशेखर
,,	,,	,, १२००		

आनी उपर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि छे अने टीकाओ तो घणी छे. तेमां निर्युक्ति, भाष्य अने मूळ सहितनी व्याख्यावाळी टीका भवविरहसूरिनी छे. तेनुं अने चूर्णिनुं संपादन आगमोद्धारकश्रीए करेलुं छे. दशवैकालिक मूळ उपर नानी टीकाओ, अवचूरि अने टबाओ वगेरे तो घणाए छे.

लघुटीका—'वंदनप्रतिक्रमणावचूरि'ना उपोद्घातमां अमे ए वात जणावी छे के–अवचूरिकार महाराज मूळने मुख्य करीने व्याख्या करता होय छे. एटले मूळ उपरनी जे व्याख्या छे तेने आधारे व्याख्या होय छे. तेवी रीते आ लघुवृत्तिमां पण वृत्तिकार महाराजे पृ. २२० मां कह्युं छे के—

"दशकालिकानुयोगात्, सूत्रव्याख्या पृथक्कृता । हरिभद्राचार्यकृतान्मोहाद्भक्त्याऽथवा मया ॥ ३ ॥
श्रीमद्बोधकशिष्येण, श्रीमत्सुमतिसूरिणा । विद्वद्भिस्तत्र नोद्वेगो, मयि कार्यो मनागपि ॥ ४ ॥"

आ बे श्लोकवडे पोतानुं श्रीहरिभद्रसूरिनी वृत्तिने अनुसरवापणुं जणाव्युं छे. तेमज पृ. १ मां—

"जयति विजितान्यतेजाः सुरासुराधीशसेवितः श्रीमान् । विमलस्त्रासविरहितस्त्रिलोकचिन्तामणिर्वीरः ॥ १ ॥

एम कह्युं छे अने पृ. २२०मां कह्युं छे के—

" महत्तराया याकिन्या, धर्मपुत्रेण चिन्तिता । आचार्यहरिभद्रेण, टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥ १ ॥

दशवैकालिके टीकां विधाय यत् पुण्यमर्जितं तेन । मात्सर्यदुःखविरहाद् गुणानुरागी भवतु लोकः ॥ २ ॥ "

आ त्रण गाथाओ श्रीहरिभद्रसूरि महाराजनी वृत्तिमांथी लीधेली छे एम जणाय छे, कारण के याकिनीमहत्तरासुनूए पोतानी टीकानी शरुआत करतां जणावेल एक तथा पूर्ण करतां जणावेला ते बे श्लोको छे. अर्थात् अवचूरिकार महाराजे श्रीमान् हरिभद्रसूरिनी वृत्तिमांथी निर्युक्ति अने भाष्यनी वृत्तिने छोडीने तेमज केटलोक चर्चा करायेलो विषय छोडीने बाकीनी बधी वृत्ति ते रूपे ज लीधी देखाय छे. तेमां पाठभेदरूपे के पाठान्तररूपे कंई खास विशेष देखातुं नथी.

नामो—टीकाकार महाराजे ते ते पृष्ठोमां अध्ययनोनां नामो नीचे प्रमाणे जणाव्यां छे—

अध्ययनोनां नामो—

पृ०	नाम	पृ०	नाम
४	द्रुमपुष्पिका	१९, २१, २२, ५०, ५१, १०८, १८१, १८८	षड्जीवनिकायिका
४, १२	श्रामण्यपूर्विका		
१२, १११	क्षुल्लिकाचारकथा	५१, ८२, ९७,	पिण्डैषणा

विषय—मोक्ष जवाने माटे संयमनी जरूर अने संयम काया वगर रही शकतो नथी, तेथी काया टकाववा माटे आहारनी जरूर पडे ते वात जणावतां धर्ममां स्थिर रहेलानी देवता प्रशंसा करे छे एम जणावी अहिंसा, संयम ने तपरूप धर्मने जणावी, तेमांथी संयमने मुख्य राखीने व्याख्या करी छे. अने संयमने माटे कायानो निर्वाह करवा भ्रमरनी उपमा आपी. आगल चालतां साधुपणुं केवुं होय ते जणावी, साधुपणाना निर्वाह माटे गोचरी, भक्ष्याभक्ष्य अने हेयोपादेय वगेरेनो सामान्य आचार जणाव्यो. संयम लीधेलो छजीवनिकायने न जाणतो होय तो संयम टकी शकतुं नथी. तेथी छजीवनिकाय जाणवी जोईए, एम जणावी कायाना निर्वाह माटे पिंड(आहार) केवा प्रकारनो लेवो ते जणाव्युं. आगळ सामान्यथी आचार जणाव्यो हतो तेथी हवे विशेषरूपे आचार जणावी, बोलवानो वहेवार केवो करवो ते जणाव्युं. आवी रीते आगल आचारमां तैयार थयेलाए आचार पालवो जोईए एम उपदेश आप्यो, आचारमां तैयार थयेलो विनयवाळो होय तेथी विनय जणावी, भिक्षुक केवा प्रकारनो होय ते जणावी 'श्रीदशवैकालिक'ना दशे अध्ययनोनी पूर्णाहुति करी छे. वळी—

सीदाता साधुने स्थिर करवो अने विविक्तचर्या एटले छूटो छूटो आचार जणाववारूप बे चूलाओ जणावी छे.

आ 'श्रीदशवैकालिक'मां दश अध्ययनो छे. पांचमा अध्ययनमां बे उद्देशा अने नवमा अध्ययनमां चार उद्देशा छे. दश अध्ययनो पछी बे चूला छे. आ 'दशवैकालिक'मां सूत्रो २२, गाथाओ ५१५ अने प्रक्षिप्त १ गाथा छे.

प. पू. तारक गुरुदेवश्रीनी ए इच्छा हती के–विद्वज्जनोने माटे तो पांडित्यभर्या ग्रन्थो घणा छपाया छे, तेथी मंदमतिवाळाना बोध माटे अवचूरि जेवा ग्रन्थो छपाय तो सारु. ए हेतुए अनेक अवचूरिओनी कोपी पोते शोधीने तैयार करी हती अने बीजाओने पण सलाह आपी हती. ए भावना अनुसार दे. ला. जै. पु. फंडे ते कार्य पण शरू कर्युं छे अने पू. गुणसागरजी महाराज पासेथी ते प्रेसकोपीओ मेळवी, अने एनु संपादन करवा माटे ते संस्थाए अमोने विनंति करी ते मुजब आ ग्रन्थ अमोए संपादित कर्यो छे

आ लघुवृत्तिमां मूळ अने तेनी वृत्ति एम छपायु छे. प्रस्तुत ग्रन्थमां अ. १नी त्रीजी गाथानी वृत्तिनो केटलोक भाग प्रेस कोपीमां लेखकदोषथी रही जवा पामेल जे बहुश्रुत गीतार्थपुरंदर आगमोद्धारकश्रीजीना मूळ हस्ताक्षरोमां (श्लोक बनावीने) आपवामां आवेल छे. जे सुज्ञ पाठकजनोने आल्हाददायी निवडशे. शरूआतमां अध्ययनोनो अनुक्रम, अने विषयानुक्रम पण आपवामां आव्या छे तेमज शुद्धिपत्रक पण छपायु छे वृत्ति संपूर्ण थया पछी परिशिष्टो आपवामां आवेला छे. ते आ प्रमाणे–(१) सूत्र अने गाथानो अकारादि, (२) अन्य वगेरे, (३) साक्षिग्रन्थोना नामो, (४) साक्षिपाठोना प्रतीको, (५) विशिष्ट नामो, (६) देशाडेलां अने भलामण करेलां उदाहरणोना नामो, (७) व्याकरणना निर्देशो अने (८) न्यायो. एम आठ परिशिष्टो आपी ग्रन्थ पूर्ण कर्यो छे गोळ कौंसमां मूकेलु अमारु छे. चोरस कौंसमां मूकेलुं प्रतमां छे तेवु ने तेवु छे. २६९ मी गाथानी बृहत् अने

लघुवृत्तिमां व्याख्या करी नथी. पृ. ५० पर चोथा अध्ययनमां एक प्रक्षिप्त गाथा छे.

आ सूत्रना आठमा अध्ययननी १९ मी गाथानी वृत्तिमां 'उपाश्रय'नो उल्लेख छे. तथा अ० ५ उ. १ गा. १८, २१ अने आठमा अध्ययननी २३ मी गाथानी वृत्तिमां 'धर्मलाभ' शब्दनो उल्लेख छे.[1]

आ वृत्तिकारे पोतानुं नाम पृ. २२० मां जणावतां सुबोधकना शिष्य सुमतिसूरि एवुं कह्युं छे, पण कोई कारणसर सुमति-साधु एवुं तेमना माटे रूढ थयुं होय एम देखाय छे.

ग्रन्थकार महाराज आ लघुटीका करतां पोतानुं डहापण नथी करता पण पूर्वपुरुषोना फरमावेलानुं अनुकरण करे छे, एम पृ. २२०–२२१मां जणावे छे. कर्त्तानो संवत् मळतो होय तेम लागतुं नथी, परंतु बे पुष्पिकाओ पृ. २२१मां आपेली छे. तेमां एक सं. १५१६ नी अने एक सं. १६६२ नी छे. तेथी एम तो कहेवाय ज के १५१६ पहेलां आ संकलना करी छे. १५१६नी प्रत 'श्रीजैन आनंद पुस्तकालय' सुरतमां अत्यारे विद्यमान छे. ते प्रत एकली ज वृत्तिवाळी छे. तेमां मूळ नथी.

अमारुं आ संपादन कार्य प. पू. तारक देवसूरतपागच्छसमाचारीसंरक्षक आगमोद्धारक आचार्यदेव श्रीआनन्दसागर-सूरीश्वरजी महाराजना अनन्यपट्टधर, विद्याव्यासंगी, श्रुतस्थविर, शान्तमूर्त्ति आचार्य माहाराज श्रीमाणिक्यसागरसूरीश्वरजीनी अमीदृष्टिना आधारे थयुं छे. अने एक वखत प्रूफ जोइ आपवानी पण उदारता करी छे.

अमे अमोने मळेली साधन–सामग्री अने अमारी बुद्धि प्रमाणे आ ग्रन्थनुं संपादन कर्युं छे, छतां कोई जणाए तेवी क्षति

---

1. कहारयणकोसमां देवद्रव्यना अधिकारमां बे भाईनी कथामां पृ. १०५नी पांचमी पंक्तिमां पण 'धम्मलाभ' शब्द छे.

श्रीसुमतिसाधुसूत्रितवृत्त्युपेतं

श्रीदशवैकालिकसूत्रम्

अध्ययनानि १०, चूलिके २, उद्देशकाः ६, सूत्राणि २१, गाथाः ५१५, प्रक्षिप्तगाथा १, पृष्ठानि २४४।

अध्ययनानुक्रमः

अध्ययनम्	उद्देशकः	नाम	गाथा	सूत्रम्	आपृष्ठम्
१	०	दुमपुप्फिया (द्रुमपुष्पिका)	१–५=५	०	४
२	०	समणपुव्विया (श्रामण्यपूर्विका)	६–१६=११	०	११
३	०	खुड्डियायारकहा (क्षुल्लकाचारकथा)	१७–३१=१५	०	१८
४	०	छज्जीवणिया (षड्जीवनिकायिका)	३२–५९=२८ प्र. १	१–१५	५१
५	१	पिण्डेसणा (पिण्डैषणा)	६०–१५९=१००	०	८२
५	२	” ”	१६०–२०९=५०	०	९६
६	०	धम्मत्थकामज्झयणं (महाचारकथा)	२१०–२७७=६८	०	११७



श्रीदशवैकालिकलघुवृत्तेर्विषयानुक्रमः



शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
५	१२	श्रुत०	शुभ०
२०	४	०मक्खाया	०मक्खाया
२८	८	एतद्देवो पन्यस्यति	एतदेवोपन्यस्यति
३०	१०	०प्रतिप्रत्ति	०प्रतिपत्ति
३२	८	०मीत्येद्०	०मीत्येतद्०
४३	२	सेऽभिखू	से भिक्खू
५१	४	पूर्ववत् ॥ व्याख्यातं	पूर्ववत् ॥
५१	६	अधुना	व्याख्यातं षड्जीवनिकाया-ध्ययनम् । अधुना
६०	८	०प्र इति	०प्रचित्त इति
६१	९	चलइत्ता	चालइत्ता
६२	८	वशिष्टो०	वशिष्टो०
७८	६	०सुज्जोगरे	०स्स उज्जोअगरे
८०	१०	सिद्धगतिं	सिद्धिगतिं
८१	४	दृष्टोऽसो	दृष्टोऽसौ
९९	३	श्रृणुत	शृणुत
१०७	९	०र्येप ष्ठी	०र्ये षष्ठी
१२३	७	गौत्रेण	गोत्रेण
१४०	१२	०कस्वणो	०विअक्खणो
१५१	४	दोप्रसङ्गा०	दोषप्रसङ्गा०
१६१	९	वा भुजङ्गे-	वा-भुजङ्गो
१७१	१	०वर्चयत्	०वर्त्तयेत्
१७२	१२	०वित्ती	०वत्ती
१७३	१२	सिद्धा०	सिद्ध्या०
१७६	११	पुनर्वा	तु वाक्
१९३	१०	ततः	तत्र

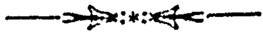
॥ अर्हम् ॥

श्रेष्ठि देवचन्द्रलालभाई–जैन–पुस्तकोद्धार–ग्रन्थाङ्के–

भगवच्छय्यंभवश्रुतकेवलिनिर्यूढं

श्रीमत्सुमतिसाधुसूरिणा भवविरहाङ्कितबृहट्टीकोद्धृतवृत्त्युपेतं

श्रीदशवैकालिकम् ।



ऐं नमः ॥ जयति विजितान्यतेजाः सुरासुराधीशसेवितः श्रीमान् । विमलस्त्रासविरहितस्त्रिलोकचिंतामणिर्वीरः ॥ १ ॥ इहार्थतस्त(तोऽर्ह)त्प्रणीतस्य सूत्रतो गणधरोपनिबद्धपूर्वगतोद्धृतस्य शारीरमानसातिकटुकदुःखसन्तानविनाशहेतोः दशवैकालिकाभिधानस्य शास्त्रस्यातिसूक्ष्ममहार्थगोचरस्य व्याख्या प्रस्तूयते, तत्र प्रस्तुतार्थप्रतिपादनार्थमेव धर्मस्य नमस्कारद्वारेणाशेषविघ्नविनायकोपशांतये भगवान् शय्यंभवाचार्यो भावमंगलमाह—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो । देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं । न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो। विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥ ३ ॥
वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ। अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥ ४ ॥
महुगारसमा वुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया। नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥ ५ ॥

त्ति बेमि। पढमं दुमपुप्फियज्झयणं समत्तं ॥ १ ॥

'धम्मो मंगल'मित्यादि,मङ्गयते हितमनेनेति मङ्गलं, 'उत्कृष्टं' प्रधानं, न हिंसा अहिंसा-प्राणातिपातविरतिरित्यर्थः, दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् धारयतीति धर्मः, स मङ्गलं, 'संयमः' आश्रवद्वारोपरमः, तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्मेति 'तपः' अनशनादि, 'देवाऽवि तं नमंसंति'ति (देवा अपि तं नमस्यन्ति) यस्य किं?-धर्मे 'सदा' सर्वकालं 'मनः' अन्तःकरणमिति ॥ १ ॥ 'जहा दुमस्से'ति 'यथा'-येन प्रकारेण द्रुमस्य पुष्पेषु भ्रमरः-चतुरिन्द्रियः, किं?-आपिबति, कं?, रसं मकरन्दमिति 'न च' नैव पुष्पं 'क्लामयति' पीडयति, 'स च' भ्रमरः 'प्रीणाति' तर्पयत्यात्मानमिति ॥२॥ 'एमेए'इत्यादि, 'एवं' अनेनैव प्रकारेण एते ये परिभ्रमन्तो दृश्यन्ते, श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः, ते च तापसादयो भवेयुरत आह-'मुक्ताः'

'नानापिण्डरता' नाना—अनेकप्रकाराभिग्रहविशेषात् प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्डः—आहारादिपिण्डः, नाना चासौ पिण्डश्च अन्तप्रान्तादिर्वा तस्मिन् रताः—अनुद्वेगवन्तः, 'दान्ता' इन्द्रियदमेन दान्ता इति पदेऽसौ वाक्यशेषो द्रष्टव्यः, ईर्यादिसमिताश्च, ततश्चार्थोऽयं यथा भ्रमरोपमया एषणासमितौ यतन्ते, तथा ईर्यादिष्वपि त्रसस्थावरभूतहितं यतन्ते, साद्भाविकं—पारमार्थिकं, ते च साधव इति, पाठान्तरं वा, 'तेनोच्यन्ते साधव' इति येन कारणेन मधुकरसमाना उक्तन्यायेनभ्रमरतुल्याः ॥५॥ इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति न स्वमनीषिकया, किन्तु तीर्थकरगणधरोपदेशेनेति ॥

द्रुमपुष्पिकाध्ययनं समाप्तम् १ ॥

——卐——

व्याख्यातं द्रुमपुष्पिकाध्ययनम्, अधुना श्रामण्यपूर्विकाख्यमारभ्यते, अस्यैवमभिसम्बन्धः इहानन्तराध्ययने धर्मप्रशंसोक्ता, सा चेहैव जिनशासन इति, इह तु तदभ्युपगमे सति मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः संमोह इत्यतो धृतिमता भवितव्यमित्येतदुच्यते, अनेन सम्बन्धेनायातमिदमत्राध्ययनम्—

कहन्नु कुज्जा सामन्नं, जो कामे न निवारए। पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥ ६ ॥

'कहण्णु' इति कथं नु कुर्यात् श्रामण्यं—श्रमणभावं यः कामान् न निवारयति, 'कथं' केन प्रकारेण, नुः क्षेपे, यथा कथं नु स राजा ? यो न रक्षति प्रजां, कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दं प्रयुङ्क्ते ?, एवं कथं नु कुर्यात् श्रामण्यं—श्रमणभावं यः कामान् न निवारयति ?, कारणमाह—'पदे पदे विषीदन् सङ्कल्पस्य वशाङ्गतः' कामानिवारणेन्द्रियाद्यपराध-

पदापेक्षया पदे पदे विषीदनात् सङ्कल्पस्य वशं गतत्वाद्, अप्रशस्ताऽध्यवसायः सङ्कल्प इति सूत्रसमासार्थ इति ॥ ६ ॥ न केवलमयमधिकृतसूत्रोक्त एव श्रामण्याकरणाद् अश्रमणः, किन्त्वाजीविकादिभयप्रव्रजितः सङ्क्लिष्टचित्तो द्रव्यक्रियां कुर्वन्नप्य-श्रमण एव-अयोग्य एव, कथं ?, यत आह सूत्रकारः—

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य । अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥ ७ ॥

'वत्थगंधमलंकारं' इति वस्त्रगन्धमलङ्काराणि, तत्र वस्त्राणि-चीनांशुकादीनि, गन्धाः-कोष्ठपुटादयः, अलङ्काराः-कटकादयः, अनुस्वारोऽलाक्षणिकः, स्त्रियोऽनेकप्रकाराः, शयनानि-पर्यङ्कादीनि, चशब्दादासनादिपरिग्रहः, एतानि वस्त्रादीनि किं ? अच्छन्दाः-अस्ववशा ये केचन 'न भुञ्जते' न सेवन्ते, किं बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशः ?, विचित्रत्वात् सूत्रगते-विपर्ययश्च भवत्येवेतिकृत्वा आह-नासौ त्यागीत्युच्यते, सुबन्धुवत् (दश० चू० पृ० ८१) नासौ श्रमण इति ॥ ७ ॥ यथा चोच्यते तथाऽभिधातुकाम आह—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ । साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥ ८ ॥

'जे य कंते पिए' इति-य एव कान्तान्-कमनीयान् शोभनानित्यर्थः, प्रियान्-इष्टान्, भोगान्-शब्दादिविषयान्, लब्धान्-प्राप्तान्, उपनतानितियावत्, 'विपिट्ठिकुव्वइ'त्ति विविधं-अनेकैः प्रकारैः श्रुतभावनादिभिः पृष्ठतः करोति, परित्यजतीत्यर्थः, स च न बन्धेन बद्धः प्रोषितो वा, किन्तु स्वाधीनं-अपरायत्तः, स्वाधीनानेव परित्यजति भोगान् पुनस्त्याग-

ग्रहणं प्रतिसमयं त्यागपरिणामवृद्धिसंसूचनार्थं, भोगग्रहणं तु सम्पूर्णभोगग्रहणार्थं त्यक्तोपनतभोगसंसूचनार्थं वा, ततश्च ईदृशः, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् स एव त्यागीत्युच्यते, भरतादिवद्, इति ॥ ८ ॥

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।

न सा महं नो वि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥ ९ ॥

'समाइ पेहाइ' इति, तस्यैवं त्यागिनः समया-आत्मपरतुल्यतया प्रेक्षते अनयेति प्रेक्षा-दृष्टिस्तया प्रेक्षया-दृष्ट्या परि-समन्तात् व्रजतो-गुरूपदेशादिना संयमयोगेषु वर्तमानस्येत्यर्थः, स्यात्-कदाचिदचिन्त्यत्वात् कर्मगतेर्मनो निःसरति बहिर्धा भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितस्मरणादिना अभुक्तभोगिनश्च कुतूहलादिना मनः-अन्तःकरणं निस्सरति-निर्गच्छति बहिर्धा-संयमयोगाद्बहिरित्यर्थः, तदा प्रशस्ताध्यवसायेनासौ अशुभसङ्कल्पः परिस्थगनीयः, केनालम्बनेनेति ? यस्यां रागः सम्पन्नस्तां प्रति चिन्तनीयं 'न सा मम, नाप्यहं तस्याः' पृथक्कर्मफलभुजो हि प्राणिन इति, एवं ततस्तस्याः सकाशाद् व्यपनयेत रागं, तत्त्वदर्शिनो हि स निवर्तत एवेति ॥ अत्रोदाहरणं (ह० १)—

यथैको वणिक्पुत्रः सञ्जातपरमवैराग्यो विचिन्त्य संसारासारतां नवे वयसि वर्तमानो विहाय यौवनश्रिया समलङ्कृतां स्त्रियं प्रव्रज्यामग्रहीत् । स च कैश्चिद्वासरैः समतिक्रान्तैः विधिना विहितप्रणिधान इदं पत्रमुद्घोषयामास—"न सा महं नोऽवि अहंपि तीसे" तेन च पठता समचिन्ति—यथा सा मम अहमपि तस्याः, यतोऽसावत्यन्तं ममानुरक्ता, ततः कथमहं तां प्राणात्ययेऽपि परित्यजामीति सम्प्रधार्य चेतसि गुरूणां किंवदन्तीमात्मीयामनिवेद्य गृहीतपात्राद्युपकरण एव गतस्तं ग्रामं

यत्रासावास्ते, प्राप्तस्य तं ग्रामं जलानयनाय बहिर्ग्रामवाप्यामत्रान्तरे तस्यासौ प्रियतमा समायाता, विलोकितोऽसौ तया, तत्र दृष्टमात्रः प्रत्यभिज्ञातः, न च तेन सा प्रत्यभिज्ञाता, कृते च वन्दने परिपृष्टाऽसौ, यथा–भद्रे ! जानासि त्वममुकस्य वणिजः सुतां, सा च तस्मिन् प्रव्रजिते समाकर्णितधर्म्मा सञ्जातपरमवैराग्या संयोगानां दुःखबहुलतां परिकल्पयन्ती प्रव्रजितुकामा परिचिन्तितवती–यादृशान्यस्य चिह्नानि समवलोक्यन्ते तादृशो विषयोन्मुखमस्य चेतः समभिलक्ष्यते, ततश्च विषयासक्तयोरावयोरवश्यं भविष्यति दुर्गतिपातः, तदयमात्मा च, ततो मया परिरक्षणीय इति सम्प्रधार्य तं प्रति जगाद–भो साधो ! सा मातापितृभिरन्यस्मै दत्ता, तत् श्रुत्वाऽसौ समचिन्तयत्, यथा–सत्यमहं भगवद्भिः साधुभिः पाठितो–"न सा महं नोऽवि अहंपि तीसे," इति परिभावयन् परमसंवेगं गतः, तां जगाद–भद्रे ! तस्याः कारणेन जन्मान्तरकोटिभिरपि दुरापं भगवतामाचार्याणां पादपद्मं विहाय विषयाभिलाषी समागतोऽहं तत्पार्श्वे, दुष्टं चेष्टितमत इतः स्थानादेव व्रजाम्यहं गुरूणामन्तिके, ततः सा तं प्रत्यवादीत्–मुने ! शोभनमुक्तवानसि, यतः असारा विषयाभिलाषाः, करिकलभश्रवणमिव चञ्चलमायुः, प्रतिक्षणध्वंसी देहः, अकृतधर्म्माणां ध्रुवो नरकपात इत्यादि तमनुशिष्य, कथयित्वा चात्मानं, सञ्जातवैराग्यं तं प्रेषयामास गुरूणामन्तिके, स्थिरीभूतश्च कृतवान् प्रव्रज्यां, एवमात्मा सन्धारणीयो यथा तेनेति ॥ ९ ॥ एवं तावदान्तरो मनोनिग्रहविधिरुक्तो, न चायं बाह्यमन्तरेण कर्तुं शक्यते, अतस्तद्विधानार्थमाह—

आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥ १० ॥

'आयावयाही'ति संयमगेहान्मनसोऽनिर्गमार्थमातापय-आतापनां कुरु, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् यथानुरूपमूनोदरतादेरपि विधिः, अनेनात्मसमुत्थदोषपरिहारमाह-तथा त्यज सौकुमार्यं-परित्यज सुकुमारत्वं, अनेन तूभयसमुत्थदोषपरिहारमाह, तथाहि-सौकुमार्यात् कामेच्छा प्रवर्तते योषितां च प्रार्थनीयो भवति, एवमुभयासेवनेन कामान् क्रम-उल्लंघय, यतस्तैः क्रान्तैः क्रान्तमेव दुःखं भवतीति शेषः, खुशब्दोऽवधारणे, कामनिबन्धनत्वाद् दुःखस्य, अधुना अनन्तरं कामक्रमणविधिमाह-छिन्द्धि द्वेषं-व्यपनय रागं सम्यग्ज्ञानबलेन विपाकालोचनादिना, एवं कृते फलमाह-एवं-अनेन प्रकारेण वर्तमानः किं-'सुखमस्यास्तीति सुखी भविष्यसि, क्व ?, संपराये-संसारे यावदपवर्गं न प्राप्स्यसि तावत् सुखी भविष्यसि, संपराये-परीषहोपसर्गसङ्ग्राम इत्यन्ये॥ १० ॥ किंच-संयमगेहान्मनस एवानिर्गमार्थमिदं चिन्तयेत्—

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं। नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥ ११ ॥

'पक्खंदे'त्यादि, प्रस्कन्दन्ति-अध्यवस्यन्ति ज्वलितं-ज्वालामालाकुलं, न मुर्मुरादिरूपं, कं ? ज्योतिषं-अग्निं धूमकेतुं-धूमध्वजं नोल्कादिरूपं, दुराशयं-दुःखेनासाद्यते-अभिभूयत इति दुरासदस्तं, दुरभिभवमित्यर्थः, चशब्दलोपात्, 'न चेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं' परित्यक्तमत्तुं, विषमिति गम्यते, के ?, नागा इति गम्यते, एवं किंविशिष्टाः ?, कुले जाताः-समुत्पन्ना अगन्धने, नागानां हि भेदद्वयं-गन्धना अगन्धनाश्च, तत्र गन्धना नाम डसिए मंतेहिं आयड्डिया तं विसं वणमुहाओ आवियन्ति, अगन्धणा उण अवि मरणमज्झवसन्ति न य वंतमावियंति, उपसंहारस्त्वेवं भावनीयः-यदि तावत् तिर्यञ्चोऽप्यभिमानमात्राद् अपि जीवितं परित्यजन्ति, न च वान्तं भुञ्जते, तत्कथमहं जिनवचनाभिज्ञो विपाकदारुणान्

विषयान् वान्तानपि भोक्ष्य इति ॥ अस्मिन्नेवार्थे द्वितीयमुदाहरणं (ह० २)—

जया किल अरिट्ठनेमी पव्वइओ, तया रहनेमी तस्स जेट्ठभाऊओ रायमइं उवयरइ, जइ नाम एसा ममं इच्छिज्जा, सावि भयवई निव्विन्नकामभोगा, नायं च तीए-जहा एसो मज्झं अज्झोववन्नो, अन्नया य तीए महुघयसंजुत्ता पेज्जा पीया, रहनेमी आगओ, मयणफलं मुहे काऊण तीए वंतं, भणियं च-एयं पेज्जं पियाहि, तेण भणियं-कहं वंतं पिज्जइ ? तीए भणियं-जइ न पिज्जइ तओ अहंपि अरिट्ठनेमिसामिणा वंता कहं पिबिउमिच्छसि ?, तथा ह्यधिकृतार्थसंवाद्येवाह—

धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा । वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ १२ ॥

'धिरत्थु' इत्यादि, तत्र राजीमती किलैवमुक्तवती-'धिगस्तु' धिक्शब्दः कुत्सायां, अस्तु-भवतु ते-तव पौरुषस्येति गम्यते, हे यशःकामिन्-कीर्त्यभिलाषिन् !, सासूयं क्षत्रियामन्त्रणं, अथवा अकारप्रश्लेषादयशःकामिन् !, धिगस्तु-भवतु तव, यस्त्वं 'जीवितकारणात्' असंयमजीवितहेतोर्वान्तमिच्छस्यापातुं-परित्यक्तां भगवताऽभिलषसि भोक्तुमिति, अतः अतिक्रान्तमर्यादस्य 'श्रेयस्ते मरणं भवेत्' शोभनतरं तव मरणं, न पुनरिदं अकार्यासेवनमिति । ततो धम्मो से कहिओ, सम्बुद्धो, पव्वइओ य, रायमईवि तं बोहिऊण पव्वइया, अन्नया कयाइ सो रहनेमी बारवईए भिक्खं हिंडिऊण सामिसगासमागच्छंतो वासवद्दलएण अब्भाहओ एगं गुहं पविट्ठो, रायमई वि सामिणो वंदणयाए गया, वंदित्ता पडिस्सयमागच्छंतीए अंतरा वरिसिएण तिंता अयाणंती तमेव गुहमणुपविट्ठा, वत्थाणि य पविसारियाणि, ताहे तीए अंगपच्चंगाणि दिट्ठाणि, सो रहनेमी तीए अज्झोववन्नो, दिट्ठो य णाए, इंगियागारकुसलाए णाओ असोहणो भावो एयस्स, ततो सा तमिदमवोचत्—

अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो । मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥१३॥

'अहं चे'ति अहं च भोगराज्ञः-उग्रसेनस्य दुहितेतिगम्यते, त्वं च असि-भवसि अंधकवृष्णेः-समुद्रविजयस्य, सुत इति गम्यते, अतो मा एकैकप्रधानकुले आवां गन्धनौ भूव, जह न सप्पतुल्लाइं होमोत्ति भणियं होइ, अतः संयमं निभृतश्चर-सर्वदुःखनिवारणं क्रियाकलापमव्याक्षिप्तः कुर्विति ॥ १३ ॥ किं च—

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारीओ । वायाविद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥१४॥

'जइ त'मिति, यदि त्वं करिष्यसि भावं-अभिप्रायं प्रार्थनमित्यर्थः, क ?-या या द्रक्ष्यसि नारीः-स्त्रियः, तासु एताः शोभनाः शोभनतराः सेवामि-कामयामीत्येवंभूतं भावं यदि करिष्यसि, ततो वायुनाऽऽविद्ध इव हतो-वातप्रेरित इवाबद्धमूलो वनस्पतिविशेषोऽस्थितात्मा भविष्यसि, सकलदुःखक्षयनिबन्धनेषु संयमगुणेष्वबद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसि—

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं । अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ १५ ॥

'तीसे सो वयण'मिति तस्या-राजीमत्या असौ-रथनेमिर्वचनमनन्तरोदितं श्रुत्वा-आकर्ण्य किंविशिष्टाया-स्तस्याः ? संयतायाः-प्रव्रजिताया इत्यर्थः, किंविशिष्टं वचनं ?-सुभाषितं-संवेगनिबन्धनं, अंकुशेन यथा नागो-हस्ती एवं धर्मे सम्प्रतिपादितो-धर्मे स्थापित इत्यर्थः ।

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पविअक्खणा। विणिअट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥ १६ ॥

त्ति बेमि। सामन्नपुव्वियं नामज्झयणं समत्तं २ ॥

'एवं करंती'ति एवं कुर्वते संबुद्धाः-बुद्धिमन्तो बुद्धाः, सम्यग्दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धाः संबुद्धा-विदितविषयस्वभावाः, सम्यग्दृष्टय इत्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते पण्डिताः प्रविचक्षणाः, तत्र पण्डिताः प्रविवक्षया सूत्रपण्डिताः सम्यग्ज्ञानवन्तः प्रविचक्षणाश्चरणपरिणामवन्तः, अन्ये तु व्याचक्षते संबुद्धाः सामान्येन बुद्धिमन्तः, पण्डिता-वान्तभोगासेवनदोषज्ञाः, प्रविचक्षणा-अवद्यभीरवः, किं कुर्वन्ति ?-विनिवर्तन्ते भोगेभ्यो विविधं-अनेकैः प्रकारैरनादिभवाभ्यासबलेन कदर्थ्यमाना अपि मोहोदयेन निवर्त्तन्ते भोगेभ्यो-विषयेभ्यो, यथा क इत्यत्राह-यथा असौ पुरुषोत्तमो रथनेमिः। आह-कथं तस्य पुरुषोत्तमत्वं ? यो हि प्रव्रजितोऽपि विषयाभिलाषीति ?, उच्यते, तथाऽभिलाषेऽप्यप्रवृत्तेः, कापुरुषस्त्वभिलाषानुरूपं चेष्टत एवेति। अपरस्त्वाह-दशवैकालिकं नियतश्रुतमेव, यत उक्तं-" नायज्झयणाहरणा इसिभासियमो पइन्नगसुया य। एए होंति अनियया निययं पुण सेसमुस्सण्णं ॥१॥" तत् कथमभिनवोत्पन्नमिदमुदाहरणं युज्यत इति ?, उच्यते, एवंभूतार्थस्यैव नियतश्रुतभावाद् उत्सन्नग्रहणाच्चादोषः, प्रायो नियतं, न तु सर्वथा नियतमेवेत्यर्थः। ब्रवीमीति न स्वमनीषिकया, किन्तु तीर्थकरगणधरोपदेशेनेति ॥

दशवैकालिकश्रुतस्कंधे द्वितीयमध्ययनं टिप्पितमिति।



व्याख्यातं श्रामण्यपूर्विकाख्यमध्ययन, इदानीं क्षुल्लिकाचारकथाख्यातमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः- इहानन्तराध्ययने धर्माभ्युपगमे सति मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः संमोह इत्यतो धृतिमता भवितव्यमित्युक्तं, इह तु सा धृतिराचारे कार्या, न त्वनाचारे, अयमेवात्मसंयमोपाय इत्येतदुच्यते, उक्तं च-" तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारे रतः सदा। स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव हि जिनोदितः ॥ १ ॥ " इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिति—

संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं। तेसिमेयमणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं ॥ १७ ॥

संयमे-उक्तस्वरूपे शोभनेन प्रकारेणागमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते तथा तेषां, त एव विशेष्यन्ते-विविधैः अनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण-भावसारं मुक्तास्तेषां, त एव विशेष्यन्ते-रक्षन्ति आत्मानं परं उभयं चेति त्रातारः, आत्मानं प्रत्येकबुद्धाः, परं तीर्थकराः स्वतीर्णत्वात्, उभयं स्थविरा इति, तेषामिदं वक्ष्यमाणलक्षणमनाचरितं-अकल्प्यं केषामित्याह-निर्ग्रंथानां-साधूनामिति, अभिधानमेतत्, महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयो-यतय इत्यर्थः, तेषां इह च पूर्वपूर्वभाव एवोत्तरोत्तरभावो नियमतो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यो, यत एव संयमे सुस्थितात्मानोऽत एव विप्रमुक्ताः, संयमसुस्थितात्मत्वनिबन्धनत्वाद्विप्रमुक्तेः, एवं शेषेष्वपि भावनीयं, अन्ये तु पश्चानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावं वर्णयन्ति, यत एव महर्षयः, अत एव निर्ग्रन्थाः, एवं शेषेष्वपि भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह—

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य। राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले अ वीयणे ॥ १८ ॥

'उद्देसिय'मिति उद्देशनं-साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः, उद्देशे भवमौद्देशिकं १, क्रयणं क्रीतं, साध्वादिनि

मित्तमिति गम्यते, तेन कृतं-निर्वर्त्तितं क्रीतकृतं २, नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं न त्वनामन्त्रितस्य ३,
अभिहडाणीति स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतं, बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थं ४,
रात्रिभक्तं-रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवसभुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणं ५, स्नानं च-देशसर्वभेदभिन्नं, देशस्नानमधिष्ठान-
शौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि, सर्वस्नानं तु प्रतीतं ६, तथा गन्धमाल्यवीजनं च गन्धग्रहणात् कोष्ठपुटादिपरिग्रहः,
माल्यग्रहणाच्च ग्रथितवेष्टिमादेर्माल्यस्य, वीजनं तालवृन्तादिना घर्मे ७-८-९ इदमनाचरितं, दोषाश्चौद्देशिकादिष्वारम्भ-
प्रवर्त्तनादयः स्वधिया वाच्या इति ॥ १८ ॥ इदं चानाचरितमिति—

सन्निही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए । संवाहणा दंतपहोअणा य, संपुच्छणा देहपलोअणा य ॥१९॥

'सन्निही' सूत्रं, सन्निधीयते अनेन आत्मा दुर्गताविति सन्निधिः-घृतगुडादीनां सञ्चयक्रिया १०, गृहमात्रं च-
गृहस्थभाजनं च ११, तथा राजपिण्डो-नृपाहारः, कः किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः, राजपिण्डोऽन्यो
वा सामान्येन १२, तथा सम्बाधनं-अस्थिमांसत्वग्रोमसुखतया चतुर्विधं मर्दनं १३, दन्तप्रधावनं च-अंगुल्यादिना
दन्तक्षालनं १४, तथा सम्प्रश्नः-सावद्यो गृहस्थविषयो राढार्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः १५, देहप्रलोकनं च-
आदर्शादौ अनाचरितं १६, दोषाश्च सन्निधिप्रभृतिषु परिग्रहप्राणातिपातादयः स्वधियैव वाच्या इति ॥ १९ ॥ किंच—

अट्ठावए अ नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए । तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥ २० ॥

'अट्ठावए' इति, अष्टापदं चेत्यष्टापदं-द्यूतं, अर्थपदं वा-गृहस्थमधिकृत्य निमित्तादिविषयमनाचरितं १७, तथा

'नालिका चे'ति द्यूतविशेषलक्षणा यत्र मा भूत्कलयाऽन्यथा पाशकपातनमिति नालिकया पात्यन्त इति, इयं चानाचरिता १८, अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यप्यभिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं नालिकाग्रहणं, अष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोभयोरिति । छत्रस्य च-लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं वा प्रत्यनर्थायेति, आगाढग्लानाद्यालंबनं मुक्त्वाऽनाचरितं, प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथाश्रुतिप्रामाण्यादिति १९ । 'तेगिच्छं'ति चिकित्साया भावश्चैकित्स्यं-व्याधिप्रतिक्रियारूपमनाचरितं २०, उपानहौ पादयोरनाचरिते, पादयोरिति साभिप्रायकं न त्वापत्कल्पपरिहारार्थं उपग्रहधारणेन २१, तथा समारंभणं समारंभश्च, ज्योतिषः-अग्नेरनाचरितमिति २२, दोषास्त्वष्टापदादीनां प्रसिद्धा एव क्षुण्णा एवेति ॥ २० ॥ किंच—

सिज्जायरपिंडं च, आसंदीपलियंकए । गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ २१ ॥

'सिज्जायर'इत्यादि, शय्यातरपिंडश्चानाचरितः, शय्या-वसतिस्तया तरति संसारमिति शय्यातरः-साधुवसतिदाता तत्पिण्डः २३, आसन्दकपर्यंकावनाचरितौ एतौ च लोकप्रसिद्धावेव २४-२५, तथा गृहान्तरनिषद्याऽनाचरिता गृहमेव गृहान्तरं गृहयोर्वा अपान्तरालं तत्रोपवेशनं, चशब्दात् पाटकादिपरिग्रहः २६, तथा गात्रस्य-कायस्योद्वर्तनानि चानाचरितानि, उद्वर्तनानि-पङ्कापनयनलक्षणानि, चशब्दात्तदन्यसंस्कारपरिग्रह इति २७ ॥ २१ ॥ तथा—

गिहिणो वेयावडियं, जा य आजीववत्तिया । तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ २२ ॥

गिहिणोत्ति गृहिणो-गृहस्थस्य वैयावृत्यमिति व्यावृत्तभावो वैयावृत्यं, गृहस्थं प्रत्यन्नादिसंपादनमित्यर्थः, एतदना-

चरितमिति २८, तथा चाजीववृत्तिता-जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनं आजीवस्तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता, जात्याद्याजीवनेनान्नयाचनेत्यर्थः, इयं चानाचरिता २९, तथा तप्तानिर्वृत्तभोजित्वं-तप्तं च तदनिर्वृत्तं तप्तानिर्वृत्तं-अत्रिदंडोद्वृत्तं चेति विग्रहः, उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं मिश्रसचित्तोदकभोजित्वमित्यर्थः, इदं चानाचरितं ३०, आतुरस्मरणानि च-क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि चानाचरितानि आतुरशरणानि वा दोषातुराश्रयदानानीति ३१ ॥ २२ ॥ किञ्च—

मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे । कंदे मूले अ सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥ २३ ॥

मूलएत्ति मूलको-लोकप्रतीतः, शृङ्गबेरं च आर्द्रकं च तथा इक्षुखण्डं च लोकप्रतीतं, अनिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसम्बध्यते, अनिर्वृतं-अपरिणतमनाचरितमिति, इक्षुखण्डं चापरिणतं द्विपर्वान्तं यद्वर्तते ३२-३३-३४, तथा कन्दो-वज्रकन्दादिः ३५, मूलं च-सट्टामूलादि सचित्तमनाचरितं ३६, फलं-त्रपुष्यादि ३७, बीजं-तिलादि ३८, आमकं-सचित्तमनाचरितमिति ॥ २३ ॥ किञ्च—

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए । सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे अ आमए ॥ २४ ॥

'सोवच्चले'ति, सोवर्चलं ३९, सैन्धवं ४०, लवणं ४१, रुमालवणं च ४२, आमकं, आमकमिति सचित्तमनाचरितं, सामुद्रं-समुद्रलवणमेव ४३, पांशुक्षार-ऊपरलवणं ४४, कृष्णलवणं च सैन्धवलवणपर्वतैकदेशजं ४५, आमकमनाचरितमिति ॥ २४ ॥ किञ्च—

धूवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेअणे । अंजणे दंतवणे य, गायाऽभंगविभूसणे ॥ २५ ॥

'धूवणे'त्ति धूपनमिति-आत्मवस्त्रयोरनाचरितमिति, प्राकृतशैल्याऽनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमिति अन्ये व्याचक्षते ४६, वमनं च मदनफलादिना ४७, वस्तिकर्म पुटकेनाधिष्ठाने स्नेहदानं ४८, विरेचनं दन्त्यादिना ४९, तथा अंजनं-रसाञ्जनादि ५०, दंतकाष्ठं च प्रतीतं ५१, गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना ५२, विभूषणं गात्राणामेवेति ५३ । ॥ २५ ॥ क्रियासूत्रमाह—

सव्वमेयमणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं । संजमंमि य जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ॥ २६ ॥

'सव्वमेयंति' सर्वमेतद्-औद्देशिकादि यदनन्तरमुक्तमिदमनाचरितं, केषामित्याह-निर्ग्रन्थानां महर्षीणां साधूनामित्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते-संयमे, चशब्दात्तपसि च, युक्तानां-अभियुक्तानां, लघुभूतविहारिणां लघुभूतो-वायुस्ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणस्तेषां, निगमनक्रियापदमेतदिति ॥ २६ ॥ किमिति अनाचरितं ?, यतस्ते एवम्भूता भवन्तीत्याह—

पंचासवपरिन्नाया, तिगुत्ता छसु संजया । पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ २७ ॥

'पंचासवे'त्यादि पंचाश्रवा-हिंसादयः परिज्ञाता द्विविधया परिज्ञया-ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परि-समन्तात् ज्ञाता यैस्ते पंचाश्रवपरिज्ञाताः, यतश्चैवम्भूता अत एव त्रिगुप्ता मनोवाक्कायगुप्तिभिः गुप्ताः, षट्सु संयताः-षट्सु

जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यताः, पंच निग्रहणा इति निगृह्णन्तीति निग्रहणाः पंचानां निग्रहणाः, पंचानामिन्द्रियाणां, धीरा–बुद्धिमन्तः, स्थिरा वा, निर्ग्रन्थाः–साधवः, ऋजुदर्शिनः इति ऋजुः–मोक्षं प्रति ऋजुत्वात् संयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः–संयमप्रतिबद्धा इति ॥ २७॥ ते च ऋजुदर्शिनः कालमधिकृत्य यथाशक्त्या एतत् कुर्वन्ति—

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा । वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥ २८ ॥

'आयावयन्ति' आतापयन्तीत्यूर्ध्वस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति ग्रीष्मेष्विति–उष्णकालेषु, हेमन्तेषु–शीतकालेषु अप्रावृता इति–प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति, तथा वर्षासु–वर्षाकालेषु प्रतिसंलीना इत्येकाश्रयस्था भवन्ति, संयताः–साधवः सुसमाहिता–ज्ञानदर्शनादिषु यत्नपराः, ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थमिति ॥ २८ ॥ किञ्च—

परीसहरिऊदंता, धूअमोहा जिइंदिया । सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥ २९ ॥

'परीसहे'ति मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः (तत्त्वा० अ० ९, ८)–क्षुत्पिपासादयः, त एव रिपवस्तुल्यधर्मत्वात् परीषहरिपवः, ते दान्ता–उपशमं नीता यैस्ते परीषहरिपुदान्ताः, धूतमोहा–विक्षिप्तमोहा इत्यर्थः मोहः–अज्ञानं, जितेन्द्रियाः–शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थः, एवम्भूताः सर्वदुःखप्रक्षयार्थं–शारीरमानसाशेषदुःखप्रक्षयनिमित्तं प्रक्रामन्ति–प्रवर्तन्ते महर्षयः–साधव इति ॥ २९ ॥ इदानीमेतेषां फलमाह—

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तु अ । केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥ ३० ॥

'दुष्कराणी'ति एवं दुष्कराणि कृत्वा औद्देशिकादित्यागादीनि, तथा दुस्सहानि सहित्वा आतापनादीनि, केचनात्र देवलोकेषु सौधर्मादिषु, गच्छन्तीति वाक्यशेषः, तथा केचन सिद्ध्यन्ति तेनैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वज्ञापनार्थः, नीरजस्का इत्यष्टविधकर्म्मविप्रमुक्ताः, न त्वेकेन्द्रिया इव कर्म्मयुक्ता एवेति ॥ ३० ॥ ये त्वंविधानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति तेऽपि ततश्च्युता आर्यदेशेषु सुकुले जन्मावाप्य शीघ्रं सिद्ध्यन्त्येवेत्यत आह—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य । सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुड ॥ ३१ ॥

त्ति बेमि । खुड्डियायारकहज्झयणं तइयं ३ ॥

'खवित्त'त्ति तदेवं देवलोकाच्च्युता क्षपयित्वा पूर्वकर्म्माणि सावशेषाणि, केनेत्याह—संयमेन उक्तस्वरूपेण तपसा च, एवं प्रवाहेण सिद्धिमार्गं—सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः सन्तस्त्रातारः आत्मादीनां परिनिर्वान्ति—सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, अन्ये तु पठन्ति—परिनिव्वुडत्ति, तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वाऽयमेव पाठो ज्यायानिति ॥३१॥ ब्रवीमीति पूर्ववदिति।

तृतीयं क्षुल्लकाचाराध्ययनं समाप्तम् ३ ॥

—— ⁂ ——

इदानीं षड्जीवनिकायिकाख्यमारभ्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने साधुना धृतिराचारे कार्या, न त्वनाचारे, अयमेव चात्मसंयमोपाय इत्युक्तं, इह पुनः स आचारः षड्जीवनिकायगोचरः प्राय इत्येतदुच्यते, उक्तं च—" छसु जीवनिकाएसु जे बुहे संजए सया। से चेव होइ विन्नेए, परमत्थेण संजए ॥ १ ॥ " इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति, तदाह—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु छज्जीवणियानामज्झयणं, समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती, कयरा खलु सा छज्जीवणियानामज्झयणं समणेणं भगवता महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ?। इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती, तंजहा—पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया, पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता, अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा

पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तंजहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया खंधबीया, बीयरुहा, संमुच्छिमा तणलया, वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तंजहा—अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेइमा, संमुच्छिमा, उब्भिया, उववाइया, जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं, रुयं, भंतं, तसियं, पलाइयं, आगइगइविन्नाया जे य कीडपयंगा जाय कुंथुपिपीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुआ सव्वे पाणा परमाहम्मिआ। एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउत्ति पवुच्चइ। सूत्रं १।

'सुयं मे' इत्यादि, श्रूयते तदिति श्रुतं—प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं, भगवता निसृष्टमात्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते, श्रुतमथश्रुतमवगतमिति पर्यायाः, मयेत्यात्मपरामर्शः, आयुरस्यास्तीत्यायुष्मांस्तस्यामन्त्रणं हे आयुष्मन्!, कः कमेवमाह?—गौतमः सुधर्मस्वामी वा, जंबू-

स्वामिनमिति, तेनेति भुवनभर्तुः परामर्शः, भगः-समग्रैश्वर्यादिः, सोऽस्यास्तीति भगवान्, तेन भगवता वर्द्धमान-
स्वामिनेत्यर्थः, एवमिति प्रकारवचनः शब्दः, आख्यातमिति केवलज्ञानेनोपलभ्यावेदितं, किमत आह-इह खलु
षड्जीवनिकायिकानामाध्ययनमस्तीति वाक्यशेषः, इह तु लोके प्रवचने वा, खलु शब्दान्नान्यतीर्थकृत्प्रवचनेषु षड-
जीवनिकायिकेति पूर्ववन्नामेत्यभिधानं अध्ययनमिति पूर्ववदेव, इह च श्रुतं मयेत्यनेनात्मपरामर्शेनैकान्तक्षणभङ्गा-
पोहमाह-तत्रेत्थंभूतार्थानुपपत्तेरिति, उक्तं च-" एगंतखणियपक्खे गहणं चिय सवहा न अत्थाणं। अणुसरणसासणाइं कुत्तो य
तेलोग(०क्क)सिद्धाइं ? ॥ १ ॥" तथा आयुष्मन्निति च प्रधानगुणनिष्पन्नेनामन्त्रणवचसा गुणवते शिष्यायागमरहस्यं देयं
नागुणवते इत्याह, तदनुकंपाप्रवृत्तेरिति, उक्तं च-" आमे घडे निहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ। इय सिद्धंतरहस्सं,
अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥" आयुश्च प्रधानो गुणः, सति तस्मिन्नव्यवच्छित्तिभावात्, 'तेन भगवता एवमाख्यात'मित्यनेन
स्वमनीषिकानिरासाच्छास्त्रपारतंत्र्यप्रदर्शनेन न ह्यसर्वज्ञेनानात्मवतान्यतस्तथाभूताव् सम्यगनिश्चित्य लोके धर्मदेशना कार्ये-
त्येतदाह विपर्ययसंभवादिति, उक्तं च-" सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो न जाणइ विसेसं। वुत्तुंपि तस्स न खमं किमंग पुण
देसणं काउं ? ॥ १ ॥ किं एत्तो पावयरं सम्मं अणहिगयधम्मसब्भावो। अन्नं कुदेसणाए, कट्ठयरागम्मि पाडेइ ॥ २ ॥"
अथवा अन्यथा व्याख्यायते सूत्रैकदेशः-आउसंतेणंति भगवत एव विशेषणं, आयुष्मता भगवता, चिरजीविनेत्यर्थः,
मंगलवचनं चैतद्, अथवा जीवता साक्षादेव, अनेन च गणधरपरंपरागमस्य जीवनविमुक्तानादिसिद्धवक्तृश्चापोहमाह-
देहाद्यभावेन तथाविधप्रयत्नाभावादिति, उक्तं च-" वयणं न कायजोगाभावे ण य सो अणाइसिद्धस्स। गहणंमि य नो

पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तंजहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया खंधबीया, बीयरुहा, संमुच्छिमा तणलया, वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तंजहा—अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेइमा, संमुच्छिमा, उब्भिया, उववाइया, जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं, रुयं, भंतं, तसियं, पलाइयं, आगइगइविन्नाया जे य कीडपयंगा जाय कुंथुपिपीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुआ सव्वे पाणा परमाहम्मिआ। एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउत्ति पवुच्चइ। सूत्रं १।

'सुयं मे' इत्यादि, श्रूयते तदिति श्रुतं—प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं, भगवता निसृष्टमात्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते, श्रुतमवधृतमवगतमिति पर्यायाः, मयेत्यात्मपरामर्शः, आयुरस्यास्तीत्यायुष्मांस्तस्यामन्त्रणं हे आयुष्मन्!, कः कमेवमाह?—गौतमः सुधर्मस्वामी वा, जंबू-

कुत इत्याह—अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः, "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायोदर्शन"मिति वचनात्, "हेतौ प्रथमा" अध्ययन-
त्वात्, अध्यात्मानयनात् चेतसो विशुद्ध्यापादनादित्यर्थः, एतदेव कुत ?, इत्याह—धर्मप्रज्ञप्तेः प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः धर्मस्य
प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिस्ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणात् चेतसो विशुद्ध्यापादनं, चेतोविशुद्ध्यापादनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति, अन्ये
तु व्याचक्षते—अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति, पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपादेयतया अनुवादमात्रमेतदिति। शिष्यः पृच्छति—कतरा
खलु इत्यादि सूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनैतद्दर्शयति—विहायाभिमानं संविग्नेन शिष्येण सर्वकार्येष्वेव गुरुः प्रष्टव्य इति।

आचार्य आह—इमा खल्वित्यादिसूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनाप्येतद्दर्शयति गुणवते शिष्याय गुरुणाऽप्युपदेशो दातव्य
एवेति। तंजहा—पुढविकाइया इत्यादि, अत्र तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, पृथिवी—काठिन्यलक्षणा प्रतीता सैव कायः—
शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिकाः, स्वार्थिके कप्रत्ययः। आपो—द्रवाः प्रतीतास्ता एव कायः—
शरीरं येषां ते अप्कायाः अप्काया एव अप्कायिकाः, तेजः—उष्णलक्षणं प्रतीतं तदेव कायः—शरीरं येषां ते तेजस्कायाः
तेजस्काया एव तेजस्कायिकाः, वायुश्चलनधर्मा प्रतीत एव स एव कायः—शरीरं येषां ते वायुकाया वायुकाया एव वायु-
कायिकाः, वनस्पतिः—लतादिरूपः प्रतीतः स एव कायः—शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः वनस्पतिकाया एव वनस्पतिकायिकाः,
एवं त्रसनशीलास्त्रसाः प्रतीताः त एव कायाः—शरीराणि येषां ते त्रसकायास्त्रसकाया एव त्रसकायिकाः, इह च सर्वभूता-
धारत्वात् पृथिव्याः प्रथमं पृथिवीकायिकानामभिधानं, तदनन्तरं तत्प्रतिष्ठितत्वादप्कायिकानां, तदनन्तरमप्प्रतिपक्षत्वा-
त्तेजस्कायिकानां, तदनन्तरं तेजस उपष्टम्भकत्वाद् वायुकायिकानां, तदनन्तरं वायोः शाखाप्रचलनादिगम्यत्वाद् वनस्पति-

हेऊ सत्थं अत्तागमो कह णु ? ॥ १ ॥" अथवा आवसंतेणंति, गुरुमूलमावसता, अनेन च शिष्येण गुरुचरणसेविना भव्यं माव्यमित्येतदाह, ज्ञानादिशुद्धिसद्भावात्, उक्तं च—" नाणस्स होइ भागी, थिरतरतो दंसणे चरित्ते य । धन्ना यावकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥" अथवा आउसंतेणं-आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन, अनेन च विनयप्रतिपत्तेर्गरीयस्त्वमाह, विनयस्य मोक्षमूलत्वात्, उक्तं च—"मूलं संसारस्स उ होंति कसाया अणंतपत्तस्स। विणओ ठाणपउत्तो दुक्खविमुक्खस्स मोक्खस्स ॥ १ ॥" कृतं प्रसंगेन, प्रकृतमुच्यते—

अत्र खलु षड्जीवनिकायिकानामाध्ययनमस्तीत्युक्तं, अत्राह-षड्जीवनिकायिका केन प्रविदिता प्ररूपिता वा? इति उच्यते, तेनैव भगवता, यत आह-समणेणमित्यादि, सा च तेन श्रमणेन-महातपस्विना भगवता-समग्रैश्वर्यादियुक्तेन महावीरेण-कषायादिशत्रुजयान्महावीरः, उक्तं च-" विदारयति यत्कर्म्म, तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥" महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तेन महावीरेण, अत्राह-षड्जीवनिकायिका केन प्रविदिता परूपिता वा ?, इति उच्यते, तेनैव भगवता, यत आह-समणेणमित्यादि, काश्यपेनेति काश्यपगोत्रेण प्रविदिता नान्यतः कुतश्चिदाकर्ण्य ज्ञाता, किं तर्हि ? स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण विदिता-ज्ञातेत्यर्थः, स्वाख्यातेति सदेवमनुष्यासुरायां पर्षदि सुष्ठु आख्याता-स्वाख्याता, सुप्रज्ञप्तेति, यथैवाख्याता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः अनेकार्थत्वाद्धातूनां " ज्ञपिरासेवनार्थः, " तां चैवम्भूतां षड्जीवनिकायिकां श्रेयो मेऽध्येतुमिति, श्रेयः-पथ्यं हितं, मे इति आत्मनिर्देशः, छान्दसत्वात्सामान्येनात्मनिर्देश इत्यन्ये, ततश्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति पठितुं श्रोतुं भावयितुं,

कुतं इत्याह–अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः, "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायोदर्शन"मिति वचनात्, "हेतौ प्रथमा" अध्ययनत्वात्, अध्यात्मानयनात् चेतसो विशुद्ध्यापादनादित्यर्थः, एतदेव कुत ?, इत्याह–धर्म्मप्रज्ञप्तेः प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिस्ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणात् चेतसो विशुद्ध्यापादनं, चेतोविशुद्ध्यापादनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति, अन्ये तु व्याचक्षते–अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति, पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपादेयतया अनुवादमात्रमेतदिति। शिष्यः पृच्छति–कतरा खलु इत्यादि सूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनैतद्दर्शयति–विहायाभिमानं संविग्नेन शिष्येण सर्वकार्येष्वेव गुरुः प्रष्टव्य इति।

आचार्य आह–इमा खल्वित्यादिसूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनाप्येतद्दर्शयति गुणवते शिष्याय गुरुणाऽप्युपदेशो दातव्य एवेति। तंजहा–पुढविकाइया इत्यादि, अत्र तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, पृथिवी–काठिन्यलक्षणा प्रतीता सैव कायः–शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिकाः, स्वार्थिके कप्रत्ययः। आपो–द्रवाः प्रतीतास्ता एव कायः–शरीरं येषां ते अप्काया अप्काया एव अप्कायिकाः, तेजः–उष्णलक्षणं प्रतीतं तदेव कायः–शरीरं येषां ते तेजस्कायाः तेजस्काया एव तेजस्कायिकाः, वायुश्चलनधर्म्मा प्रतीत एव स एव कायः–शरीरं येषां ते वायुकाया वायुकाया एव वायुकायिकाः, वनस्पतिः–लतादिरूपः प्रतीतः स एव कायः–शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः वनस्पतिकाया एव वनस्पतिकायिकाः, एवं त्रसनशीलास्त्रसाः प्रतीताः त एव कायाः–शरीराणि येषां ते त्रसकायास्त्रसकाया एव त्रसकायिकाः, इह च सर्वभूताधारत्वात् पृथिव्याः प्रथमं पृथिवीकायिकानामभिधानं, तदनन्तरं तत्प्रतिष्ठितत्वादप्कायिकानां, तदनन्तरमप्प्रतिपक्षत्वात्तेजस्कायिकानां, तदनन्तरं तेजस उपष्टम्भकत्वाद् वायुकायिकानां, तदनन्तरं वायोः शाखाप्रचलनादिगम्यत्वाद् वनस्पति-

हेऊ सत्थं अत्तागमो कह णु ? ॥ १ ॥" अथवा आवसंतेणंति, गुरुमूलमावसता, अनेन च शिष्येण गुरुचरणसेविना सदा भाव्यमित्येतदाह, ज्ञानादिवृद्धिसद्भावात्, उक्तं च—"नाणस्स होइ भागी, थिरतरतो दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥" अथवा आउसंतेणं-आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन, अनेन च विनयप्रतिपत्तेर्गरीयस्त्वमाह, विनयस्य मोक्षमूलत्वात्, उक्तं च—"मूलं संसारस्स उ होंति कसाया अणंतपत्तस्स। विणओ ठाणपउत्तो दुक्खविमुक्खस्स मोक्खस्स ॥ १ ॥" कृतं प्रसंगेन, प्रकृतमुच्यते—

अत्र खलु षड्जीवनिकायिकानामाध्ययनमस्तीत्युक्तं, अत्राह-षड्जीवनिकायिका केन प्रविदिता प्ररूपिता वा? इति उच्यते, तेनैव भगवता, यत आह-समणेणमित्यादि, सा च तेन श्रमणेन-महातपस्विना भगवता-समग्रैश्वर्यादियुक्तेन महावीरेण-कषायादिशत्रुजयान्महावीरः,उक्तं च-"विदारयति यत्कर्म्म, तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥" महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तेन महावीरेण, अत्राह-षड्जीवनिकायिका केन प्रविदिता परूपिता वा ?, इति उच्यते, तेनैव भगवता, यत आह-समणेणमित्यादि, काश्यपेनेति काश्यपगोत्रेण प्रविदिता नान्यतः कुतश्चिदाकर्ण्य ज्ञाता, किं तर्हि ? स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण विदिता-ज्ञातेत्यर्थः, स्वाख्यातेति सदेवमनुष्यासुरायां पर्षदि सुष्ठु आख्याता-स्वाख्याता, सुप्रज्ञप्तेति, यथैवाख्याता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः अनेकार्थत्वाद्धातूनां "ज्ञपिरासेवनार्थः," तां चैवम्भूतां षड्जीवनिकायिकां श्रेयो मेऽध्येतुमिति, श्रेयः-पथ्यं हितं, मे इति आत्मनिर्देशः, छान्दसत्वात्सामान्येनात्मनिर्देश इत्यन्ये, ततश्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति पठितुं श्रोतुं भावयितुं,

भवति, यथा कृष्णा मृद् उदकस्य पाण्डुमृदश्च परस्परं स्पर्शगन्धादिभिः; यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदकं भवति तदाऽसौ कृष्ण-मृदुदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्रं भवति, एवं च परिणतायां पृथिव्यामुच्चारादिकरणेऽपि नास्ति तदतिपात इत्यहिंसकत्वोपपत्तेः सम्भवी साधुधर्म्म इति । एवमापश्चित्तवत्य आख्याताः, तेजश्चित्तवदाख्यातं, वायुश्चित्तवानाख्यातः, वनस्पति-श्चित्तवानाख्यातः, इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । इदानीं वनस्पतिजीवविशेषप्रतिपादनायाह—'तंजहा अग्गबीया' इत्यादि, तद् यथा उपन्यासार्थः, अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः—कोरण्टकादयः, एवं मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः—उत्पलकन्दादयः, पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः—इक्ष्वादयः, स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः—शल्लक्यादयः, बीजाद् रोहन्तीति बीज-रुहाः—शाल्यादयः, संमूर्च्छन्तीति संमूर्छिमाः—प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्ते तथाविधास्तृणादयः, न चैते न संभवन्ति, दग्धभूमावपि संभवात्, तथा तृणलतावनस्पतिकायिका इति, अत्र तृणलताग्रहणं स्वगतानेकभेदसंदर्शनार्थं, वनस्पतिकायिकग्रहणं सूक्ष्मबादराद्यनेकवनस्पतिभेदसङ्ग्रहार्थं, एतेन पृथिव्यादीनामपि स्वगता भेदाः पृथिवीशर्करादयः, तथाऽवश्यायमिहिकादयः, अङ्गारज्वालादयः, झञ्झामण्डलिकादयो भेदाः सूचिता इति, सबीजाश्चित्तवन्तः 'आख्याताः'—कथिता इति । एते ह्यनन्तरोदिता वनस्पतिविशेषाः सबीजाः—स्वस्वनिबन्धनाश्चित्तवन्तः—आत्मवन्त आख्याताः—कथिताः । एते चानेकजीवा इत्यादि ध्रुवगण्डिका पूर्ववत् ॥ इदानीं त्रसाधिकार एतदेवाह—'से जे पुण इमे' सेशब्दोऽथशब्दार्थः, असावप्युपन्यासार्थः, "अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्वि"ति वचनात्, अथ ये पुनरमी—बालादी-नामपि प्रसिद्धा अनेके—द्वीन्द्रियादिभेदेन बहव एकैकस्यां जातौ त्रसाः प्राणिनः, त्रस्यन्तीति त्रसाः, प्राणा—उच्छ्वासादय

३

कायिकानां, तदनन्तरं च वनस्पतेस्तसोपग्राहकत्वात् त्रसकायिकानामिति। विप्रतिपत्तिनिरासार्थं पुनराह–पुढवी चित्तमंतमक्खाया पृथिवी–उक्तलक्षणा चित्त–जीवलक्षणं तदस्या अस्तीति चित्तवती–सजीवेत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'पुढवी चित्तमत्तमक्खाया,' अत्र मात्रशब्दः स्तोकवाची यथा "सर्षपत्रिभागमात्र"मिति, ततश्चित्तमात्रा–स्तोकचित्तेत्यर्थः, तथा च प्रबलमोहोदयात् सर्वजघन्यं चैतन्यमेकेन्द्रियाणां तदधिकं द्वीन्द्रियादीनामिति, आख्याता–सर्वज्ञेन कथिता, इयं चानेकजीवा–अनेके जीवा यस्यां सा अनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां "पृथिवी देवते"त्येवमादिवचनप्रामाण्यादिति। अनेकजीवापि कैश्चिदेकभूतात्मापेक्षयेष्यत एव, यथाहुरेके–"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥" अत आह–पुढो सत्ता–पृथक् सत्त्वाः–प्राणिनो (आत्मानो) यस्यां सा पृथक्सत्त्वा, अंगुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिकानेकजीवसमाश्रितेति भावः आह–यद्येवं जीवपिंडरूपा पृथ्वी ततस्तस्यामुच्चारादिकरणेन नियमतस्तदतिपातादहिंसकत्वानुपपत्तिरित्यसंभवी साधुधर्म्म इत्याह–अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः–शस्त्रपरिणतां पृथिवीं विहायान्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः, अथ किं पृथिव्याः शस्त्रं ?,–" दव्वं सत्थग्गिविसंनेहंबिलखारलोणमाईयं। भावो उ दुप्पउत्तो वाया काओ अविरई य ॥ १ ॥ किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंची। एय तु दव्वसत्थं भावे अस्संजमो सत्थं ॥ २ ॥" भावनवशनोरखननादिः, एतानि स्वपरव्यापादकत्वात्कर्मबन्धनिबन्धनत्वात् शस्त्रमिति, तत्र किंचित् स्वकायशस्त्रं यथा कृष्णा मृन्नीलादिमृदः शस्त्रं, एवं गन्धरसस्पर्शभेदेऽपि शस्त्रयोजना कार्या, तथा किंचित् परकायेऽपि परकायशस्त्रं यथा पृथ्वी अप्तेजःप्रभृतीनामप्तेजःप्रभृतयो वा पृथिव्याः, तदुभयं किंचिदिति किंचित्तदुभयशस्त्रं

कृतत्रसभेदानाह–जे य इत्यादि, ये च कीटपतङ्गा इत्यत्र कीटाः–कृमयः, “एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण”मिति द्वीन्द्रियाः–शंखा-
दयोऽपि गृह्यन्ते, पतङ्गाः–शलभाः, अत्रापि पूर्ववच्चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयोऽपि गृह्यन्त इति, तथा याश्च कुन्थुपिपीलिका
इत्यनेन त्रीन्द्रियाः सर्वे एव गृह्यन्ते, अत एवाह–सर्वे द्वीन्द्रियाः–कृम्यादयः सर्वे त्रीन्द्रियाः–कुन्थ्वादयः, सर्वे चतुरि-
न्द्रियाः–पतङ्गादयः, आह–ये च कीटपतङ्गा इत्यादावुद्देशव्यत्ययः किमर्थं ?, उच्यते, “ विचित्रा सूत्रगतिरतन्त्रः क्रम ” इति
ज्ञापनार्थं, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सामान्यतो, विशेषतः पुनः सर्वे तिर्यग्योनयो–गवादयः, सर्वे नारका–रत्नप्रभानारकादि-
भेदभिन्नाः, सर्वे मनुजाः–कर्म्मभूमिजादयः, सर्वे देवा–भवनवास्यादयः, सर्वशब्दश्चात्र परिशेषभेदानां त्रसत्वख्याप-
नार्थः, सर्वे एव एते त्रसाः, न त्वेकेन्द्रिया इव त्रसाः स्थावराश्चेति, उक्तं च–“ पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः, तेजोवायू
द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः” (तत्त्वा० अ० २, सू. १३–१४) इति, सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इति, सर्वे एते प्राणिनो–
द्वीन्द्रियादयः पृथिव्यादयश्च परमधर्म्माण इति, अत्र परमं–सुखं तद्धर्म्माणः सुखधर्म्माणः, सुखाभिलाषिण इत्यर्थः,
यतश्चैवमतो दुःखोत्पादपरिजिहीर्षया एतेषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेतेतियोगः । षष्ठं जीवनिकायं
निगमयन्नाह–एष खलु अनन्तरोदितः कीटादिः, ‘षष्ठो जीवनिकायः’ पृथिव्यादिपञ्चकायापेक्षया षष्ठत्वमस्य, त्रसकाय
इति प्रोच्यते–प्रकर्षेणोच्यते सर्वैरेव तीर्थकरगणधरैरिति । १ ।

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभंतेऽवि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न

येषां विद्यन्त इति प्राणिनः, तद्यथा–अण्डजा इत्यादि, एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकायः प्रोच्यत इति योगः, तत्राण्डाज्जाता अण्डजाः–पक्षिगृहकोकिला(लि)दयः, पोता एव जायन्ते पोतजाः, ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलौकाप्रभृतयः, जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजाः–गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः, रसाज्जाता रसजाः–तक्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति, संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजाः–मत्कुणयूकादयः, संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्च्छनजाः–शलभपिपीलिकामक्षिकाशालूरा(का)दयः, उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदजाः–पतङ्गखञ्जरीटपारिप्लवादयः, उपपाताज्जाताः उपपाते भवा उपपातजाः, उपपातेन वा भवा औपपातिका–देवा नारकाश्च, एतेषामेव लक्षणमाह–येषां केषाञ्चित् सामान्येनैव प्राणिनां–जीवानामभिक्रान्तं भवतीति वाक्यशेषः, अभिक्रमणमभिक्रान्तं, प्रज्ञापकं प्रत्यभिमुखं क्रमणमित्यर्थः, एवं प्रतिक्रमणं प्रतिक्रान्तं–प्रज्ञापकात् प्रतीपं क्रमणमिति भावः, सङ्कुचनं सङ्कुचितं–गात्रसङ्कोचकरणं, प्रसारणं प्रसारितं–गात्रविततकरणं, रवणं रुतं–शब्दकरणं, भ्रमणं भ्रान्तमितश्चेतश्च गमनं, त्रसनं त्रस्तं–दुःखोद्वेजनं, पलायनं पलायितं–कुतश्चिन्नाशनं, तथा आगतेः–कुतश्चिज्ज्ञातस्य गतेश्च–कुतश्चित् क्वचिदेव, विज्ञाया इति ज्ञातारः। आह—अभिक्रान्तप्रतिक्रान्ताभ्यां नागतिगत्योः कश्चिद्भेद इति, किमर्थं भेदेनाभिधानं ?, उच्यते, विज्ञानविशेषख्यापनार्थं, एतदुक्तं भवति–य एवं जानन्ति यथा वयमभिक्रमामः प्रतिक्रमामो वा त एव त्रसाः, न तु षूचिं प्रत्यभिक्रमणवन्तोऽपि वल्लयादय इति। आह–एवमपि द्वीन्द्रियादीनामत्रसत्वप्रसंगः, अभिक्रमणप्रतिक्रमणभावेऽप्येवंविधज्ञानाभावात् ?, नैतदेवं, हेतुसंज्ञयाऽवगतेर्बुद्धिपूर्वकमेव छायात उष्णमुष्णाद्वा छायां प्रति तेषां अभिक्रमणादिभावात्, न चैवं वल्लयादीनामभिक्रमणादि, ओघसंज्ञया प्रवृत्तेरिति। अधि-

परसाक्षिकी गर्हा–जुगुप्सोच्यते, आत्मानमतीतदण्डकारिणमश्लाघ्यं व्युत्सृजामीति, विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः, उच्छब्दो भृशार्थः सृजामि–त्यजामि, ततश्च विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामि, आह– यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्यैदम्पर्यं न प्रत्युत्पन्नसंवरणमनागतप्रत्याख्यानं चेति, नैतदेवं, न करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति । २ । अयं चात्मप्रतिप्रत्ययहो दण्डः, सामान्यविशेषरूप इति, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स तु विशेषतः पञ्चमहाव्रतरूपतया अङ्गीकर्तव्य इति महाव्रतान्याह–

पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा, तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं १ ।सू०३।

पढमे भंते ! इति; सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्राणातिपातविरमणं प्रथमं तस्मिन् प्रथमे भदन्तेति गुरोरामन्त्रणं, महाव्रत इति, महच्च तद्व्रतं च महाव्रतं, महत्वमणुव्रतापेक्षया महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणं इति, प्राणा–इन्द्रियादयः, तेषामतिपातः प्राणातिपातः–जीवस्य महादुःखोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव, तस्माद्विरमणं नाम सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं

करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । सू० २ ।

'एतेषां षण्णां जीवनिकायाना'मिति, "सुपांसुपो भवन्ती"ति सप्तम्यर्थे षष्ठी, एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु अनन्तरोदितस्वरूपेषु नैव 'स्वयं' आत्मना 'दण्डं' सङ्घट्टनपरितापनादिलक्षणं, समारभेत-प्रवर्तयेत्, तथा नैवान्यैः प्रेष्यादिभिर्दण्डमुक्तलक्षणं समारंभयेत्-कारयेदित्यर्थः, दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् प्राणिनो न समनुजानीयात्-नानुमोदयेदिति विधायकं भगवद्वचनं, यतश्चैवमतो यावज्जीवमित्यादि यावद्व्युत्सृजामीत्येवमिदं सम्यक् प्रतिपद्येतैत्यैदम्पर्यं, पदार्थस्तु जीवनं जीवो, यावज्जीवं-आप्राणोपरमादित्यर्थः, किमित्याह-त्रिविधं त्रिविधेनेति तिस्रो विधाः-विधानानि कृतादिरूपाणि यस्येति त्रिविधो, दण्ड इति गम्यते, तं त्रिविधेन करणेनेति, एतदेवोपन्यस्यति; मनसा वचसा कायेन; एतेषां स्वरूपं प्रसिद्धमेव; अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः, तं वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैवोपन्यस्यन्नाह, तत्त्वतः न करोमि स्वयं, न कारयाम्यन्यैः, कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानामीति, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि इति तस्येत्यधिकृतो दण्डः, योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य संबन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रमामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणाद् अनागतस्य प्रत्याख्यानादिति, भदन्तेति गुरोरामन्त्रणं, भदन्त ! भवान्त ! भयान्त ! इति साधारणा श्रुतिः, एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थं, प्रतिक्रमामीति भूतादण्डान्निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति; तस्माच्च निवृत्तिर्यच्चदनुमतेर्विरमणमिति, तथा निन्दामि गरिहामीति आत्मसाक्षिकी निन्दा

कोहा वा लोहा वा, भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयंतेवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २ । सू० ४ ।

'अहावरे' इति, अथापरस्मिन् द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणं, सर्वं भदन्त मृषावादं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा-क्रोधाद्वा लोभाद्वा इत्यनेनाद्यन्तग्रहणात् मानमायापरिग्रहः, भयाद्वा हास्याद्वा इत्यनेन प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानादिपरिग्रहः, नेव सयं मुसं वइज्जत्ति, नैवं स्वयं मृषा वदामि, नैवान्यैर्मृषा वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीत्येतद् यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । ४ । उक्तं द्वितीयं महाव्रतं, अधुना तृतीयमाह-

अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रन्ने वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्नं गिण्हंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न

सर्वथा निवर्त्तनं, भगवतोक्तमिति वाक्यशेषः, यतश्चैवमत उपादेयमेतदिति विनिश्चित्य 'सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामी'ति सर्वं-निरवशेषं, न तु परिस्थूरमेव, भदन्तेति गुर्वामन्त्रणं प्राणातिपातमिति पूर्ववत्, प्रत्याख्यामीति-प्रतिशब्दः प्रतिषेधे, आङाभिमुख्ये, ख्या प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा प्रत्याचक्षे-संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्यादरेणाभिधानं करोमीत्यर्थः, अनेन व्रतार्थपरिज्ञानादिगुणयुक्त उपस्थापनार्ह इत्येतदाह-उक्तं च-"पढिए० ॥ १ ॥" इत्यादि, तदेतद्विशेषेणाभिधित्सुराह-से सुहुमं वेत्यादि, सशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धः अथशब्दार्थः, स चोपन्यासे, तद्यथा-'सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा, अत्र सूक्ष्मोऽल्पः परिगृह्यते, न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनासम्भवात्, बादरोऽपि स्थूरः, स चैकैको द्विधा-त्रसः स्थावरश्च, सूक्ष्मत्रसः-कुन्थ्वादिः, स्थावरो-वनस्पत्यादिः, बादरस्त्रसो गवादिः, स्थावरः पृथिव्यादिः, एतान्, 'नेव सयं पाणे अतिवाएज्जा'त्ति नैव स्वयं प्राणिनो व्यतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवमित्यादि पूर्ववत्, व्रतप्रतिपत्तिं निगमयन्नाह-प्रथमे भदन्त ! म० उप-सामीप्येन तत्परिणामापत्त्या स्थितः, इत आरभ्य सर्वस्मात्प्राणातिपाताद्विरमणमिति, भदन्त ! अनेन चादिमध्यावसानेषु गुरुमनापृच्छय न किंचित्कर्तव्यं, कृतं च तस्मै निवेदनीयमेवं तदाराधितं भवति, एतदेवाह-सव्वंस्मात्प्राणातिपाताद्विरमणमिति, महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात्प्राणातिपाताद्विरमणमिति । ३ । उक्तं च प्रथमं महाव्रतं, इदानीं द्वितीयमाह-

अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि, से

कोहा वा लोहा वा, भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयंतेवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। दोच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २। सू० ४।

'अहावरे' इति, अथापरस्मिन् द्वितीये भदन्त! महाव्रते मृषावादाद्विरमणं, सर्वं भदन्त मृषावादं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा-क्रोधाद्वा लोभाद्वा इत्यनेनाद्यन्तग्रहणात् मानमायापरिग्रहः, भयाद्वा हास्याद्वा इत्यनेन प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानादिपरिग्रहः, नेव सयं मुसं वइज्जत्ति, नैवं स्वयं मृषा वदामि, नैवान्यैर्मृषा वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीत्येतद् यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत्। ४। उक्तं द्वितीयं महाव्रतं, अधुना तृतीयमाह-

अहावरे तच्चे भंते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भंते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रन्ने वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं आदिन्नं गिण्हेज्जा नेवन्नेहिं आदिन्नं गेण्हावेज्जा आदिन्नं गिण्हंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न

समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ३। सू० ५।

अथापरस्मिन् तृतीये भदन्त! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! अदत्तादानं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा– ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा इत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः प्रसिद्धान्येतानि, तथा अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा, चित्तवद्वा अचित्तवद्वा इत्यनेन तु द्रव्यपरिग्रहः, तत्र अल्पं-मूल्यत एरण्डकाष्ठादि बहु–वज्रादि, अणु–प्रमाणतो वज्रादि, स्थूलमेरण्डकाष्ठादि, एतच्च चित्तवद्वा अचित्तवद्वेति–चेतनाचेतनमित्यर्थः, 'नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा'त्ति, नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीत्येद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत्। ५। उक्तं तृतीयं, महाव्रतमिदानीं चतुर्थमाह–

अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं, सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं

वोसिरामि । चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४ । सू० ६ ।

अहावरे इत्यादि, अथापरस्मिन् चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते मैथुनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! मैथुनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा—दैवं वा मानुषं वा तैर्यग्योनं वा, अनेन द्रव्यपरिग्रहः, 'नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा' नैव स्वयं मैथुनं सेवे, न चान्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान्न समनुजानामीत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । ६ । उक्तं चतुर्थं महाव्रतं, इदानीं पञ्चममाह—

अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा, अणुं वा थूलं वा, चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ५ । सू० ७ ।

अहावरे इत्यादि, अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामीति

समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ३ । सू० ५ ।

अथापरस्मिन् तृतीये भदन्त ! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा— ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा इत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः प्रसिद्धान्येतानि, तथा अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा, चित्तवद्वा अचित्तवद्वा इत्यनेन तु द्रव्यपरिग्रहः, तत्र अल्प-मूल्यत एरण्डकाष्ठादि बहु-वज्रादि, अणु-प्रमाणतो वज्रादि, स्थूलमेरण्ड-काष्ठादि, एतच्च चित्तवद्वा अचित्तवद्वेति-चेतनाचेतनमित्यर्थः, 'नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्ज' त्ति, नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीत्येद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । ५ । उक्तं तृतीयं, महाव्रतमिदानीं चतुर्थमाह—

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं

वोसिरामि। चउत्थे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४। सू० ६।

अहावरे इत्यादि, अथापरस्मिन् चतुर्थे भदन्त! महाव्रते मैथुनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! मैथुनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा—दैवं वा मानुषं वा तैर्यग्योनं वा, अनेन द्रव्यपरिग्रहः, 'नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा' नैव स्वयं मैथुनं सेवे, न चान्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान्न समनुजानामीत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत्। ६।

उक्तं चतुर्थं महाव्रतं, इदानीं पञ्चममाह—

अहावरे पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा, अणुं वा थूलं वा, चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पंचमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ५। सू० ७।

अहावरे इत्यादि, अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! परिग्रहं प्रत्याख्यामीति

पूर्ववत्, तद्यथा-अल्पं वेत्यादि अवयवव्याख्याऽपि पूर्ववदेव, 'नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा' नेव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । ७ । उक्तं पञ्चमं महाव्रतमधुना षष्ठं व्रतमाह—

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! राईभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजंतेवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ६ । सू० ८ ।

इच्चेइयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ।सू०९।

अहावरे इत्यादि, अथापरस्मिन् षष्ठे व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा-अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा, अश्यत इति अशनं-ओदनादि, पीयत इति पानं-मृद्वीकापानमित्यादि, खाद्यत इति खाद्यं-खर्जूरादि, स्वाद्यत इति स्वाद्यं-तांबूलादि, 'नेव सयं राइं भुंजिज्जा' नैव स्वयं रात्रौ भुङ्क्ते, नैवान्यैः रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान्नैव समनुजानामीत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । एतच्च

रात्रिभोजनविरमणं प्रथमचरमतीर्थंकरतीर्थयोः ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं पंचममहाव्रतोपरि पठितं, मध्यमतीर्थंकरतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति । ८ । समस्तव्रताभ्युपगमख्यापनायाह–' इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं ' इत्यादि, इत्येतानि अनन्तरोदितानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि, किमित्याह–आत्महितार्थं आत्महितो–मोक्षस्तदर्थं, अनेनान्यार्थं तत्त्वतो व्रताभावमाह तदभिलाषानुमत्या हिंसादावनुमत्यादिभावात्, उपसम्पद्य-सामीप्येनाङ्गीकृत्यव्रतानि ' विहरामि ' सुसाधुविहारेण, तदभावेऽङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात्, दोषाश्च हिंसादिकर्तॄणामल्पायुर्जिह्वाच्छेददारिद्र्यपण्डकदुःखितत्वादयो वाच्या इति । ९ । उक्तश्चारित्रधर्म्मः, साम्प्रतं यतनाया अवसरः, तथा चाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, से पुढविं वा भित्तं वा सिलं वा लेलुं वा, ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं, हत्थेण वा, पाएण वा, कट्ठेण वा, किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा, सिलागहत्थेण वा न आलिहिज्जा, न विलिहिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, अन्नं न आलिहाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि

न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामिं, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामिं अप्पाणं वोसिरामि । सू० १० ।

से भिक्खू वा इत्यादि, से इति निर्देशे स योऽसौ महाव्रतयुक्तो, 'भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा'–आरम्भत्यागाद्धर्मकायपालनाय भिक्षणशीलो भिक्षुः, एवं भिक्षुक्यपि, पुरुषोत्तमो धर्म्म इति भिक्षुर्विशेष्यते, तद्विशेषणानि च भिक्षुक्या अपि द्रष्टव्यानीत्याह–'संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा' तत्र सामस्त्येन यतः संयतः–सप्तदशप्रकारसंयमोपेतो विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः; प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मेति; प्रतिहतं–स्थितिह्रासतो ग्रंथिभेदेन प्रत्याख्यात–हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन पाप कर्म्म–ज्ञानावरणादि येन स तथाविधः, दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, रात्रौ सुप्तो दिवा जाग्रत्, कारणिक एको, शेषकालं परिषद्गतः, इदं वक्ष्यमाणं न कुर्यात्। 'से पुढविं वा' इत्यादि, तद्यथा–पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लेष्टुं(लोष्टं) वा, तत्र पृथिवी–लोष्टादिरहिता, भित्तिः–नदीतटी, शिला–विशालः पाषाणः, लेष्टुः(लोष्टः) प्रसिद्धः, सह रजसा–अरण्यपांशुलक्षणेन वर्तते इति सरजस्कं वा 'कायं' कायमिति देहं, सरजस्कं वा वस्त्र–चोलपट्टकादि, एकग्रहणात्तज्जातीयग्रहणमिति पात्रादिपरिग्रहः, एतत्किमित्याह–हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा किलिञ्चेन वा–क्षुद्रकाष्ठरूपेण अङ्गुल्या वा शलाकया वा–अयःशलाकादिरूपया शलाकाहस्तेन वा–शलाकासंघातरूपेण नालिहितेति नालिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात्, तत्रेषत् सकृद्वाऽऽलेखनं, निरन्तरमनेकशो वा

विलि(ले)खनं, घट्टनं–चालनं, भेदो–विदारणं, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नालेखयेत्, न घट्टयेन्न भेदयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव आलिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । १० । तथा—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसिज्जा न संफुसिज्जा न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा न अक्खोडिज्जा न पक्खोडिज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं न आमुसाविज्जा न संफुसाविज्जा न आवीलाविज्जा न पवीलाविज्जा न अक्खोडाविज्जा न पक्खोडाविज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पकखोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं

न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । सू० १० ।

से भिक्खू वा इत्यादि, से इति निर्देशे स योऽसौ महाव्रतयुक्तो, 'भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा'–आरम्भत्यागाद्धर्मकायपालनाय भिक्षणशीलो भिक्षुः, एवं भिक्षुक्यपि, पुरुषोत्तमो धर्म्म इति भिक्षुर्विशेष्यते, तद्विशेषणानि च भिक्षुक्या अपि द्रष्टव्यानीत्याह–'संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा' तत्र सामस्त्येन यतः संयतः–सप्तदशप्रकारसंयमोपेतो विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः, प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मेति, प्रतिहतं–स्थितिह्रासतो ग्रंथिभेदेन प्रत्याख्यातं–हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन पापं कर्म–ज्ञानावरणादि येन स तथाविधः, दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, रात्रौ सुप्तो दिवा जाग्रत्, कारणिक एकः, शेषकाले परिषद्गतः, इदं वक्ष्यमाणं न कुर्यात्। 'से पुढविं वा' इत्यादि, तद्यथा–पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लेष्टुं(लोष्टं) वा, तत्र पृथिवी–लोष्टादिरहिता, भित्तिः–नदीतटी, शिला–विशालः पाषाणः, लेष्टुः(लोष्टः) प्रसिद्धः, सह रजसा–अरण्यपांशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्कं वा 'कायं' कायमिति देहं, सरजस्कं वा वस्त्रं–चोलपट्टकादि, एकग्रहणात्तज्जातीयग्रहणमिति पात्रादिपरिग्रहः, एतत्किमित्याह–हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा किलिञ्चेन वा–क्षुद्रकाष्ठरूपेण अङ्गुल्या वा शलाकया वा–अयःशलाकादिरूपया शलाकाहस्तेन वा–शलाकासंघातरूपेण नालिखेदिति' नालिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात्, तत्रैषत् सकृद्वाऽऽलेखनं, निरन्तरमनेकशो वा

विलि(ले)खनं, घट्टनं—चालनं, भेदो—विदारणं, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नालेखयेत्, न घट्टयेन्न भेदयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव आलिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । १० । तथा—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसिज्जा न संफुसिज्जा न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा न अक्खोडिज्जा न पक्खोडिज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं न आमुसाविज्जा न संफुसाविज्जा न आवीलाविज्जा न पवीलाविज्जा न अक्खोडाविज्जा न पक्खोडाविज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं

न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । सू० १० ।

से भिक्खू वा इत्यादि, से इति निर्देशे स योऽसौ महाव्रतयुक्तो, 'भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा'–आरम्भत्यागाद्धर्मकायपालनाय भिक्षणशीलो भिक्षुः, एवं भिक्षुक्यपि, पुरुषोत्तमो धर्म्म इति भिक्षुर्विशेष्यते, तद्विशेषणानि च भिक्षुक्या अपि द्रष्टव्यानीत्याह–'संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा' तत्र सामस्त्येन यतः संयतः–सप्तदशप्रकारसंयमोपेतो विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः, प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्म्मेति; प्रतिहतं–स्थितिह्रासतो ग्रंथिभेदेन प्रत्याख्यातं–हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन पापं कर्म्म–ज्ञानावरणादि येन स तथाविधः, दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, रात्रौ सुप्तो दिवा जाग्रन्, कारणिक एकः, शेषकालं परिषद्गतः, इदं वक्ष्यमाणं न कुर्यात् । 'से पुढविं वा' इत्यादि, तद्यथा–पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लेष्टुं(लोष्टं) वा, तत्र पृथिवी–लोष्टादिरहिता, भित्तिः–नदीतटी, शिला–विशालः पाषाणः, लेष्टुः(लोष्टः) प्रसिद्धः, सह रजसा–अरण्यपांशुलक्षणेन वर्तते इति सरजस्कं वा 'कायं' कायमिति देहं, सरजस्कं वा वस्त्रं–चोलपट्टकादि, एकग्रहणात्तज्जातीयग्रहणमिति पात्रादिपरिग्रहः, एतत्किमित्याह–हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा किलिञ्चेन वा–क्षुद्रकाष्ठरूपेण अङ्गुल्या वा शलाकया वा–अयःशलाकादिरूपया शलाकाहस्तेन वा–शलाकासंघातरूपेण नालिहितेति नालिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात्, तत्रैषत् सकृद्वाऽऽलेखनं, निरन्तरमनेकशो वा

विलि(ले)खनं, घट्टनं-चालनं, भेदो-विदारणं, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नालेखयेत्, न घट्टयेन्न भेदयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव आलिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । १० । तथा—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसिज्जा न संफुसिज्जा न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा न अक्खोडिज्जा न पक्खोडिज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं न आमुसाविज्जा न संफुसाविज्जा न आवीलाविज्जा न पवीलाविज्जा न अक्खोडाविज्जा न पक्खोडाविज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पकखोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं

४ कुर्यात्तथाऽ--

वोसिरामि । सू० ११ ।

स भिक्खू वा इत्यादि यावज्जागरमाणे वत्ति पूर्ववदेव, से उदगं चेत्यादि, तद्यथा-उदकं वा अवश्यायं वा हिमं वा महिका वा करकं वा हरतनुं वा शुद्धोदकं वा, तत्रोदकं-शिरापानीयं, अवश्यायः-त्रेहः, हिमं-स्त्यानोदकं, महिका-धूमरिका, करकः-कठिनोदकरूपः, हरतनुर्भुवमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति, शुद्धोदकं-अन्तरिक्षोदकं, तथोदकार्द्रं वा कायं वस्त्रं, उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषाराद्यनन्तरोदितोदकभेदसन्मिश्रता, तथा सस्निग्धं वा कायं, सस्निग्धं वा वस्त्रं, अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति, सह स्निग्धेन वर्तत इति सस्निग्धः, सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितानन्तरोदितोदकभेदसन्मिश्रता, एतानिदमित्याह-'नामुसेज्ज'त्ति-नामृशेत् न संस्पृशेत् नापीडयेन्न प्रपीडयेत् नास्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नातापयेत् न प्रतापयेत्, तत्र सकृदीषद्वा स्पर्शनमामर्षणं अतोऽन्यत्संस्पर्शनं, एवं सकृदीषद्वा पीडनमापीडनं अतोऽन्यत्प्रपीडनं, एवं सकृदीषद्वास्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनं, एवं सकृदीषद्वा तापनमातापनं विपरीतं प्रतापनं, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नामर्षयेत् न संस्पर्शयेत् नापीडयेत् न प्रपीडयेत् नास्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नातापयेत् न प्रतापयेत्, तथाऽन्यं स्वत एवामृषन्तं वा संस्पृशन्तं वा आपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वा आस्फोटयन्तं वा प्रस्फोटयन्तं वा आतापयन्तं वा प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । ११ ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा

एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न उज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न उज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । सू० १२ ।

से भिक्खू वा इत्यादि, यावज्जागरमाणे वत्ति पूर्ववदेव, 'से अगणिं वा' इत्यादि, तद्यथा-अग्निं वा अङ्गारं वा मुर्म्मुरं वा अर्चिर्वा ज्वालां वा अलातं वा शुद्धाग्निं वा उल्कां वा, इहायस्पिण्डानुगतोऽग्निः, ज्वालारहितोऽङ्गारः, विरलाग्निकणं भस्म मुर्म्मुरः, मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला अर्चिः, प्रतिबद्धा ज्वाला, अलातं-उल्मुकं, निरिन्धनः-शुद्धोऽग्निः, उल्का-गगनाग्निः, एतत् किमित्याह-'न उंजिज्जा' नोत्सिञ्चयेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, तत्रोञ्जनं-उत्सेचनं, घट्टनं-सजातीयादिना चालनं, उज्ज्वालनं-व्यजनादिभिः वृद्ध्यापादनं, निर्वापणं-विध्यापनं, एतत् स्वयं न कुर्यात्तथाऽन्यमन्येन वा नोत्सेचयेदित्यादि, तथाऽन्यं स्वत उत्सिञ्चयन्तं वा घट्टयन्तं वा उज्ज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा

वोसिरामि । सू० ११ ।

से भिक्खू वा इत्यादि यावज्जागरमाणे वत्ति पूर्ववदेव, से उदगं वेत्यादि, तद्यथा—उदकं वा अवश्यायं वा हिमं वा महिकां वा करकं वा हरतनुं वा शुद्धोदकं वा, तत्रोदकं—शिरापानीयं, अवश्यायः—स्नेहः, हिमं—स्त्यानोदकं, महिका—धूमरिका, करकः—कठिनोदकरूपः, हरतनुर्भूमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति, शुद्धोदकं—अन्तरिक्षोदकं, तथोदकार्द्रं वा कायं वस्त्रं वा उदकार्द्रं वा वस्त्रं, उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषाराद्यनन्तरोदितोदकभेदसन्निमिश्रता, तथा सस्निग्धं वा कायं, सस्निग्धं वा वस्त्रं, अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति, सह स्निग्धेन वर्तत इति सस्निग्धः, सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितानन्तरोदितोदकभेदसन्निमिश्रता, एतादृशं वा कायं वस्त्रं वा एतदविकमित्याह—'नामुसेज्ज'त्ति—नामृशेत् न संस्पृशेत् नापीडयेन्न प्रपीडयेत् नास्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नातापयेत् न प्रतापयेत्, तत्र सकृदीषद्वा स्पर्शनमामर्षणं अतोऽन्यत्संस्पर्शनं, एवं सकृदीषद्वा पीडनमापीडनं अतोऽन्यत्प्रपीडनं, एवं सकृदीषद्वास्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनं, एवं सकृदीषद्वा तापनमातापनं विपरीतं प्रतापनं, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नामर्षयेत् न संस्पर्शयेत् नापीडयेत् न प्रपीडयेत् नास्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नातापयेत् न प्रतापयेत्, तथाऽन्यं स्वत एवामृषन्तं वा संस्पृशन्तं वा आपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वा आस्फोटयन्तं वा प्रस्फोटयन्तं वा आतापयन्तं वा प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । ११ ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा

एभिः किमित्याह–आत्मनो वा कायं–स्वदेहमित्यर्थः, बाह्यं वा पुद्गलं–उष्णोदनादि, एतत् किमित्याह–' न फुमेज्जा ' इत्यादि, न फूत्कूर्यात् न व्यजेत्, तत्र फूत्करणं–मुखेन धमनं, व्यजनं चमरादिना वायुकरणम्, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा न फूत्कारयेत् न व्याजयेत्, तथाऽन्यं स्वत फुत्कुर्वन्तं वा व्यजन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । १३ ।

से भिक्खूवा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से बीएसु वा बीयपइट्ठेसु वा रूढेसु वा रूढपइट्ठेसु वा जाएसु वा जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठेसु वा सच्चित्तेसु वा सच्चित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा न गच्छेज्जा न चिट्ठिज्जा न निसीइज्जा न तुयट्टिज्जा अन्नं न गच्छाविज्जा न चिट्ठाविज्जा न निसीयाविज्जा न तुयट्टाविज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीयतं वा तुयट्टंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । सू० १४ ।

से भिक्खू वा 'इत्यादि यावज्जागरमाणे वत्ति पूर्ववदेव, ' से बीएसु वे 'त्यादि, तद्यथा–बीजेषु वा

न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । १२ ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से सिएण वा विहुणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकन्नेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वावि पोग्गलं न फुमिज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमाविज्जा न वीयाविज्जा अन्नं फुमंतं वा वीयंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । सू० १३ ।

'से भिक्खू वा' इत्यादि यावज्जागरमाणे वत्ति पूर्ववदेव 'से सिएण वे'त्यादि, तद्यथा—सितेन वा विधुवनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा पेहुणेन वा पेहुणहस्तेन वा चेलेन वा चेलकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा, इह सितं—चामरं, विधुवनं—व्यजनं, तालवृन्तं—तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रं द्विपुटं, पत्रं—पद्मिनीपत्रादि, शाखा—वृक्षडालं शाखाभङ्गं—तदेकदेशः, पेहुणं—मयूरादिपिच्छं, पेहुणहस्तकः—तत्समूहः, चेलं—वस्त्रं, चेलकर्णः—तदेकदेशः, हस्तमुखे—प्रतीते,

पडिलेहिय २ पमज्जिय २ एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा । सू० १५ ।

सेऽभिक्खू वा इत्यादि यावज्जागरमाणे वत्ति पूर्ववत्, स कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा, किमित्याह– हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरुणि वा उदरे वा शिरसि वा वस्त्रे वा पात्रे वा रजोहरणे वा कंबले वा गोच्छे वा उन्दके वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिन्यु पकरणजाते कीटादिरूपं त्रसं कथञ्चिदापतितं सन्तं संयत एव सन् प्रयत्नेन वा प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य–पौनःपुन्येन सम्यक्, प्रमृज्य प्रमृज्य–पौनःपुन्येनैव सम्यक्, किमित्याह–एकान्ते–तस्यानुपघातके स्थाने अपनयेत्–परित्यजेत्, 'नैनं त्रसं संघातमापादयेत्, नैनं त्रसं संघातं–परस्परगात्रसंस्पर्शपीडारूपमापादयेत्–प्रापयेत्, अनेन परितापनादिप्रतिषेध उक्तो वेदितव्यः, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणादन्यकारणानुमतिप्रतिषेधश्च, शेषमत्र प्रकटार्थमेव, नवरमुन्दकं–स्थंडिलं, शय्या–संस्तारिका वसतिर्वा । १५ । इत्युक्ता यतना, गतश्चतुर्थोऽर्थाधिकारः ।

अजयं चरमाणो य(उ), पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयंफलं ॥ ३२ ॥

अजयं चिट्ठमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयंफलं ॥ ३३ ॥

अजयं आसमाणो य, पाणभूया० । बंधई०, तं से० ॥ ३४ ॥

अजयं सयमाणो य, पाण० । बंधई०, तं से हो० ॥ ३५ ॥

बीजप्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तेषु वा सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा, इह बीजं-शाल्यादि, तत्प्रतिष्ठितमासन(हार)-शयनादि गृह्यते, एवं सर्वत्र वेदितव्यं, रूढानि-स्फुटितबीजानि, तत्प्रतिष्ठितानि, जातानि-स्तम्बीभूतानि, हरितानि-दूर्वादीनि, छिन्नानि-प्रहरणविशेषपरश्वादिभिर्वृक्षात् पृथक् स्थापितानि, आर्द्राण्यपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते सचित्तानि-अण्डकानि कोलो-घुणस्तत्प्रतिनिश्रितानि-तदुपरिवर्त्तीनि दार्वादीनि गृह्यन्ते, एतेषु किमित्याह-न गच्छेत्-न गच्छेत् न तिष्ठेत् न निषीदेत् न त्वग्वर्त्तयेत्, तत्र गमनमन्यतोऽन्यत्र, स्थानमेकत्रैव, निषीदनं-उपवेशनं, त्वग्वर्त्तनं-स्वपनं, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमेतेषु न गमयेत् न स्थापयेत् न निषीदयेत् न त्वग्वर्त्तयेत्-न स्वापयेत्, तथान्यं स्वत एव गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा स्वपन्तं वा न समनुजानीयादिति पूर्ववत्। १४।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिपीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा कंबलंसि वा पायपुंछणंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव

पडिलेहिय २ पमज्जिय २ एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा । सू० १५ ।

सेऽभिक्खू वा इत्यादि यावज्जागरमाणे वत्ति पूर्ववत्, स कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा, किमित्याह–हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरुणि वा उदरे वा शिरसि वा वस्त्रे वा पात्रे वा रजोहरणे वा कंबले वा गोच्छे वा उन्दके वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिन्यु पकरणजाते कीटादिरूपं त्रसं कथञ्चिदापतितं सन्तं संयत एव सन् प्रयत्नेन वा प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य–पौनःपुन्येन सम्यक्, प्रमृज्य प्रमृज्य–पौनःपुन्येनैव सम्यक्, किमित्याह–एकान्ते–तस्यानुपघातके स्थाने अपनयेत्–परित्यजेत्, 'नैनं त्रसं संघातमापादयेत्, नैनं त्रसं संघातं–परस्परगात्रसंस्पर्शपीडारूपमापादयेत्–प्रापयेत्, अनेन परितापनादिप्रतिषेध उक्तो वेदितव्यः, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणादन्यकारणानुमतिप्रतिषेधश्च, शेषमत्र प्रकटार्थमेव, नवरमुन्दकं–स्थंडिलं, शय्या–संस्तारिका वसतिर्वा । १५ । इत्युक्ता यतना, गतश्चतुर्थोऽर्थाधिकारः ।

अजयं चरमाणो य(उ), पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयंफलं ॥ ३२ ॥

अजयं चिट्ठमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयंफलं ॥ ३३ ॥

अजयं आसमाणो य, पाणभूया० । बंधई०, तं से० ॥ ३४ ॥

अजयं सयमाणो य, पाण० । बंधई०, तं से हो० ॥ ३५ ॥

बीजप्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तेषु वा सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा, इह बीजं-शाल्यादि, तत्प्रतिष्ठितमासन(दार)-शयनादि गृह्यते, एवं सर्वत्र वेदितव्यं, रूढानि-स्फुटितबीजानि, तत्प्रतिष्ठितानि, जातानि-स्तम्बीभूतानि, हरितानि-दूर्वादीनि, छिन्नानि-प्रहरणविशेषपरश्वादिभिर्वृक्षात् पृथक् स्थापितानि, आर्द्राण्यपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते सचित्तानि-अण्डकानि कोला-घुणस्तत्प्रतिनिश्रितानि-तदुपरिवर्त्तीनि दार्वादीनि गृह्यन्ते, एतेषु किमित्याह-न गच्छेत्-न तिष्ठेत् न निषीदेत् न त्वग्वर्त्तयेत्, तत्र गमनमन्यतोऽन्यत्र, स्थानमेकत्रैव, निषीदनं-उपवेशनं, त्वग्वर्त्तनं-स्वपनं, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमेतेषु न गमयेत् न स्थापयेत् न निषीदयेत् न त्वग्वर्त्तयेत्-न स्वापयेत्, तथान्यं स्वत एव गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा स्वपन्तं वा न समनुजानीयादिति पूर्ववत् । १४ ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिपीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा कंबलंसि वा पायपुंछणंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव

पडिलेहिय २ पमाजिय २ एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा । सू० १५ ।

सेऽभिक्खू वा इत्यादि यावज्जागरमाणे त्ति पूर्ववत्, स कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा, किमित्याह–

हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरुणि वा उदरे वा शिरसि वा वस्त्रे वा पात्रे वा रजोहरणे वा कंवले वा गोच्छे वा उन्दके

वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिन्यु

पकरणजाते कीटादिरूपं त्रसं कथञ्चिदापतितं सन्तं संयत एव सन् प्रयत्नेन वा प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य–पौनःपुन्येन सम्यक्,

प्रमृज्य प्रमृज्य–पौनःपुन्येनैव सम्यक्, किमित्याह–एकान्ते–तस्यानुपघातके स्थाने अपनयेत्–परित्यजेत्, 'नैनं त्रसं

संघातमापादयेत्, नैनं त्रसं संघातं–परस्परगात्रसंस्पर्शपीडारूपमापादयेत्–प्रापयेत्, अनेन परितापनादिप्रतिषेध उक्तो

वेदितव्यः, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणादन्यकारणानुमतिप्रतिषेधश्च, शेषमत्र प्रकटार्थमेव, नवरमुन्दकं–स्थंडिलं, शय्या–

संस्तारिका वसतिर्वा । १५ । इत्युक्ता यतना, गतश्चतुर्थोऽर्थाधिकारः ।

अजयं चरमाणो य(उ), पाणभूयाइं हिंसइ । वंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयंफलं ॥ ३२ ॥

अजयं चिट्ठमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ । वंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयंफलं ॥ ३३ ॥

अजयं आसमाणो य, पाणभूया० । वंधई०, तं से० ॥ ३४ ॥

अजयं सयमाणो य, पाण० । वंधई०, तं से हो० ॥ ३५ ॥

अजयं भुंजमाणो य, पाणभू० । बंधई०, तं से० ॥ ३६ ॥
अजयं भासमाणो य, पाणभू० । बंधई०, तं से० ॥ ३७ ॥
कहं चरे ? कहं चिट्ठे ?, कहमासे ? कहं सए ? । कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ? ॥ ३८ ॥
जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए । जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ३९ ॥
सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ । पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ४० ॥

सांप्रत उपदेशाख्यः पञ्चम उच्यते–अजयमित्यादि अयतं चरन्नयतं गच्छन्–ईर्यासमितिमुल्लंघ्य, किमित्याह–' प्राणि भूतानि हिनस्ति ', प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयो भूतानि–एकेन्द्रियास्तानि हिनस्ति–प्रमादानाभोगाभ्यां व्यापादयतीतिभावः, तानि च हिंसन् 'बध्नाति पापं कर्म' अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानावरणीयादि. ' तत् से भवति कटुकफलं ' तत्–पापं कर्म, से तस्यायतचारिणो भवति, कटुकफलमिति अनुस्वारोऽलाक्षणिकः अशुभफलं भवति, मोहादिहेतुतया विपाकदारुण-मित्यर्थः ॥ ३२ ॥ एवमयतं तिष्ठन् ऊर्ध्वस्थानेनासमाहितो हस्तपादादि विक्षिपन्, शेषं पूर्ववत् ॥ ३३ ॥ एवमयतमासीनो–निषण्णतयाऽनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन, शेषं पूर्ववत् ॥ ३४ ॥ एवमयतं स्वपन्–असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना(वा), शेषं पूर्ववत् ॥ ३५ ॥ एवमयतं भुञ्जानो–निष्प्रयोजनं प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना(वा), शेषं पूर्ववत् ॥ ३६ ॥ एवमयतं भाषमाणो, गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना(वा), शेषं पूर्ववत् ॥ ३७ ॥ अत्राह–यद्येवं पापकर्मबन्धस्ततः ' कहं चरे '

इत्यादि कथं-केन प्रकारेण चरेत् ?, कथं तिष्ठेत् ?, कथमासीत ?, कथं स्वपेत् ?, कथं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नातीति ? ॥ ३८ ॥ आचार्य आह—'जयं चरे' इत्यादि, यतं-चरेत् सूत्रोपदेशेन ईर्यादिसमितः, यतं तिष्ठेत् समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण, यतमासीत उपयुक्तमाकुञ्चनाद्यकरणेन, यतं स्वपेत्-समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण, यतं भुञ्जानः-सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना, एवं यतं भाषमाणः साधुभाषया मृदु कालप्राप्तं च, पापं कर्म-क्लिष्टं अकुशलानुबन्धि ज्ञानावरणादि न बध्नाति-नादत्ते, निराश्रवत्वाद्विहितानुष्ठानपरत्वादिति ॥ ३९ ॥ किं च—'सव्व-भूय' इत्यादि, सर्वभूतेष्वात्मभूतः-सर्वभूतात्मभूतो य आत्मवत् सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थः, तस्यैवं सम्यग्-वीतरागोक्तेन विधिना भूतानि-पृथिव्यादीनि पश्यतः सतः पिहिताश्रवस्य-स्थगितप्राणातिपाताद्याश्रवस्य दान्तस्य-इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन पापं कर्म न बध्नाति, तस्य पापकर्मबन्धो न भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ एवं सति सर्वभूतदयावतः पापकर्मबन्धो न भवति, ततश्च सर्वात्मना दयायामेव यतितव्यं, अलं ज्ञानाभ्यासेनापि(नेति) मा भूदव्युत्पन्नविनेयमतिविभ्रम इति तदपोहायाह—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए। अन्नाणी किं काही ?, किं वा नाही छेयपावगं ? ॥४१॥

सुच्चा जाणइ कल्लाणं, सुच्चा जाणइ पावगं । उभयंपि जाणइ सुच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥ ४२ ॥

जो जीवेवि न याणेइ, अजीवेवि न याणेइ । जीवाजीवे अयाणंतो, कह सो नाहिइ संयमं ? ॥४३॥

जो जीवेवि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणेइ । जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहिइ संयमं ॥ ४४ ॥

'पढमं नाण'मिति, प्रथमं-आदौ ज्ञानं-जीवस्वरूपसंरक्षणोपायफलविषयं 'ततः' तथाविधज्ञानसमनन्तरं दया-संयमः, तदेकान्तोपादेयतया भावतस्तत्प्रवृत्तेः, एवं-अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण तिष्ठति-आस्ते, सर्वसंयतः-सर्वप्रव्रजितः, यः पुनरज्ञानी-साध्योपायफलपरिज्ञानविकलः स किं करिष्यति ?, सर्वत्रान्धतुल्यत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्ताभावात्, किं वा कुर्वन् ज्ञास्यति छेकं-निपुणं हित कालोचितं, पापकं वा-अतो विपरीतमिति, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्रनिमित्ताभावात्, अन्धप्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत्, अत एवान्यत्राप्युक्तं—"गीयत्थो य विहारो० ॥ १ ॥" इत्यादि, अतो ज्ञानाभ्यासः कार्यः ॥ ४१ ॥ तथा चाह—'सुचा०' इति श्रुत्वा-आकर्ण्य ससाधनस्वरूपविपाकं जानाति-बुध्यते कल्याणं-कल्यो-मोक्षस्तमणति-नयतीति कल्याणं-दयाख्यं संयमस्वरूपं, श्रुत्वा जानाति पापं-पापकर्म्म असंयमस्वरूपं, उभयमपि-संयमासंयमस्वरूपं श्रावकोपयोगि जानाति श्रुत्वा, नाश्रुत्वा, यतश्चैवमत इत्थं विज्ञाय यच्छेकं-निपुणं हितं कालोचितं, तत् समाचरेत्-तत्कुर्यादित्यर्थः ॥ ४२ ॥ उक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-'जो जीवे 'त्यादि, यो जीवानपि पृथिवीकायिकादिभेदभिन्नान् न जानाति 'अजीवानपि' संयमोपघातिनो मद्यहिरण्यादीन् न जानाति, एवं जीवाजीवानजानन् कथमसौ ज्ञास्यति संयमं ? तद्विषयं तद्विषयाज्ञानादिति भावः ॥ ४३ ॥ ततश्च 'जो जीवे' त्यादि, यो जीवानपि विजानाति अजीवानपि विजानाति, जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति ॥ ४४ ॥ प्रतिपादितः पञ्चम उपदेशार्थाधिकारः ।

जया जीवमजीवे अ, दोऽवि एए विआणइ । तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ ४५ ॥

जया गइ बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ । तया पुन्नं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥ ४६ ॥
जया पुन्नं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ । तया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥ ४७ ॥
जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे । तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं ॥ ४८ ॥
जया चयइ संयोगं, सब्भिंतरबाहिरं । तया मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारियं ॥ ४९ ॥
जया मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारियं । तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ ५० ॥
जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं । तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसंकडं ॥ ५१ ॥
जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसंकडं । तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥ ५२ ॥
जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ । तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥ ५३ ॥
जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली । तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ ५४ ॥
जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ । तया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ ५५ ॥
जया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ । तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥ ५६ ॥

साम्प्रतं धर्मफलमाह–' जया 'इत्यादि यदा–यस्मिन् काले जीवान् अजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति–त्रिविधं जानाति तदा–तस्मिन् काले गतिं–नरकगत्यादिरूपां बहुविधां–स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां तां सर्वजीवानां जानाति यथावस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात् ॥ ४५ ॥ उत्तरोत्तरां फलवृद्धिमाह–यदा गतिं बहुविधां स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां सर्वजीवानां जानाति, तदा पुण्यं च पापं च–बहुविधगतिनिबन्धनं, तथा बन्धं–जीवकर्मयोगसुखदुःखलक्षणं, मोक्षं–तद्वियोगस्वरूपावस्थानलक्षणं जानाति ॥४६॥ 'जया'इत्यादि, यदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति तदा निर्विन्ते–मोहाभावात् सम्यग्विचारयत्यसारदुःखरूपतया भोगान्–शब्दादीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्, शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति ॥ ४७ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा निर्विन्ते भोगान् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् तदा त्यजति संयोगं-संबन्धं, द्रव्यतो भावतः साभ्यन्तरबाह्यं–क्रोधादिहिरण्यादिसम्बन्धमित्यर्थः ॥४८। 'जया' इत्यादि, यदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तरबाह्यं तदा मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च प्रव्रजति–प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमितिभावः ॥ ४९ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा मुण्डो भूत्वा प्रव्रजत्यनगारितां, तदा संवरमुक्किट्ठंति, प्राकृतशैल्या उत्कृष्टसंवरं धर्मं–सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपं चारित्रधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तरं–सम्यगासेवत इत्यर्थः ॥ ५० ॥ 'जया' इत्यादि, यदोत्कृष्टसंवरं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरं तदा धुनोति–अनेकार्थतया पातयति कर्मरजः–कर्मैवात्मरञ्जनाद्रज इव रजः, किंविशिष्टमित्याह–अबोधिकलुषकृतं अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः ॥ ५१ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा धुनोति कर्मरजः अबोधिकलुषकृतं तदा सर्वत्रगं ज्ञानं अशेषज्ञेयविषयं

'जया' इत्यादि, यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाशेषदृश्यविषयम् अधिगच्छत्यावरणाभावादाधिक्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाधिगच्छति तदा लोकं—चतुर्दशरज्ज्वात्मकं अलोकं चानन्तं जिनो जानाति केवली, लोकालोकौ च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थः ॥ ५३ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली तदोचितसमयेन योगान् निरुद्ध्य मनोयोगादीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते, भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय ॥ ५४ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा योगान्निरुद्ध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय, तदा कर्म्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि सिद्धिं गच्छति लोकान्तक्षेत्ररूपां नीरजाः—सकलकर्मरजोविप्रमुक्तः ॥ ५५ ॥ 'जया' इत्यादि,—यदा कर्म क्षपयित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजास्तदा लोकमस्तकस्थः त्रैलोक्योपरिवर्ती सिद्धो भवति 'शाश्वतः' कर्मबीजाभावात् अनुत्पत्तिधर्म्मेति भावः ॥ ५६ ॥ उक्तो धर्म्मफलाख्यः षष्ठोऽधिकारः ।

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोअस्स, दुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ ५७ ॥
तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंयमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ ५८ ॥
पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।

१ नैषा गाथा विवृता ।

५

जेसिं पिओ तवो संजमो य, खंती अ बंभचेरं च ॥ (प्र० १) ॥
इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुलहं लभित्तु सामन्नं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥ ५९ ॥ त्तिबेमि

इति छज्जीवणियानाम चउत्थं अज्झयणं समत्तं ॥ ४ ॥

साम्प्रतमिदं धर्म्मफलं यस्य दुर्लभं तमभिधित्सुराह–'सुहसायगस्से'त्ति सुखास्वादकस्य–अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखोपभोक्तुः श्रमणस्य-द्रव्यप्रव्रजितस्य सातकुलस्य भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तचित्तस्य निकामशायिनः-सूत्रार्थवेलामप्युल्लंघ्य शयानस्योच्छोलनाप्रधाविनः उच्छोलनयोदकायतनया प्रकर्षेण धावति–पादादिशुद्धिं करोति यः स तथाविधस्तस्य, किमित्याह–दुर्लभा–दुष्प्राप सुगतिः–सिद्धिपदपर्यवसाना तादृशस्य भगवदाज्ञालोपकारिण इति गाथार्थः ॥५७॥ इदानीं धर्म्मफलं यस्य सुलभं तमाह–'तवोगुण' इत्यादि, तपोगुणप्रधानस्य–षष्ठाष्टमादितपोगुण(धन)स्तः ऋजुमतेर्मार्गप्रवृत्तबुद्धेः क्षान्तिसंयमरतस्य–क्षान्तिप्रधानसंयमासेविन इत्यर्थः। परीषहान्–क्षुत्पिपासादीन् जयतः–अभिभवतः सुलभा सुगतिः–उक्तलक्षणा तादृशस्य भगवदाज्ञाकारिण इति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ महार्था षड्जीवनिकायिकेति विधिनोपसंहरन्नाह–'इच्चेय' मित्यादि, इत्येतां षड्जीवनिकायिकामधिकृताध्ययनप्रतिपादितार्थरूपां न विराधयेदिति योगः । सम्यग्दृष्टिः–जीवस्तत्त्वश्रद्धानवान् सदा यतः–सर्वकालं प्रयत्नपरः सन्, किमित्याह–' दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं ' दुष्प्राप्यं प्राप्य श्रमणभावं–षड्जीव-

निकायसंरक्षणैकरूपं कर्म्मणा मनोवाक्कायक्रियया प्रमादेन न विराधयेत्-न खण्डयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथंचिद्भवति, तथाप्यसावविराधक एवेत्यर्थः । एतेन " जले जीवाः, स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ? ॥ १ ॥ " इत्येतत्प्रत्युक्तं, तथा सूक्ष्माणां विराधनाभावाच्च ॥ ५९ ॥ ब्रवीमि इति पूर्ववत् ॥ व्याख्यातं षड्जीवनिकायाध्ययनम् ।

इति चतुर्थं षड्जीवनिकायाध्ययनं समाप्तम् ४ ॥

अधुना पिण्डैषणाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तराध्ययने साधोराचारः षड्जीवनिकायगोचरः प्राय इत्येतदुक्तं । इह तु धर्म्मकाये स्वस्थे सति असौ सम्यक् पाल्यते, स चाहारमन्तरेण प्रायः स्वस्थो न भवति, स च सावद्येतरभेद इत्यनवद्यो ग्राह्य इत्येतदुच्यते, उक्तं च-" से संजए समक्खाए, निरवज्जाहारि जे विऊ । धम्मकायट्ठिए सम्मं, सुहजोगाण साहए ॥ १ ॥ " इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति, तच्चेदं—

संपत्ते भिक्खकालंमि, असंभंतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥ ६० ॥

से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी । चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥ ६१ ॥

'संपत्ते'-गाहा, सम्प्राप्ते-शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते भिक्षाकाले-भिक्षासमये, अनेनासम्प्राप्ते भक्तपानैषणाप्रतिषेधमाह । अलाभाज्ञाखण्डनास्यां दृष्टादृष्टविरोधात्, असम्भ्रान्तः-अनाकुलो यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथे-

त्यर्थः । अमूर्च्छितः-पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो, विहितानुष्ठानमितिकृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति । अनेन वक्ष्यमाणलक्षणेन क्रमयोगेन परिपाटीव्यापारेण भक्तपानं यतियोग्यमोदनारनालादि गवेषयेदिति-अन्वेषयेदिति सूत्रार्थः । ॥ ६० ॥ यत्र यथा गवेषयेत्तदाह-'से गामे'त्यादि, स इत्यसम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितो ग्रामे वा नगरे वा, उपलक्षणत्वात् कर्बटादौ वा गोचराग्रगत इति गोरिव चरणं गोचरः-उत्तममध्यमाधमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनमग्रः-प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन तद्गतः-तद्वर्त्ती मुनिः-भावसाधुः चरेत्-गच्छेत् मन्दं-शनैःशनैर्न द्रुतमित्यर्थः । अनुद्विग्नः-प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽबिभ्यत् अव्याक्षिप्तेन चेतसा-अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तेनेति सूत्रार्थः ॥ ६१ ॥

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे अ दगमट्टियं ॥ ६२ ॥
ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए । संकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ६३ ॥
पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए । हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥ ६४ ॥
तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए । सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥ ६५ ॥
इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं । ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं नइक्कमे ॥ ६६ ॥
न चरेज्ज वासे वासंते, महिआए वा पडंतिए । महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥ ६७ ॥

यथा चरेत्तथैवाह–'पुरओ जुग'त्ति पुरतो–अग्रतो युगमात्रया–शरीरप्रमाणया शकटोर्द्धिसंस्थितया दृष्ट्येति वाक्यशेषः। प्रेक्षमाणः–प्रकर्षेण पश्यन् महीं–भुवं चरेद्–यायात्, न शेपदिगुपयोगेनेति गम्यते। न प्रेक्षमाण एव, अपि तु वर्जयन्–परिहरन् बीजहरितानि, अनेनानेकभेदस्य वनस्पतेः परिहारमाह। तथा प्राणिनो–द्वीन्द्रियादींस्तथोदकं–अप्कायं मृत्तिकां च–पृथिवीकायं, चशब्दात्तेजोवायुपरिग्रहः ॥ ६२ ॥ उक्तः संयमविराधनापरिहारः। अधुनाऽऽत्मसंयमविराधनापरिहारमाह–'ओवाय'मिति, अवपातं–गर्त्तादिरूपं, विषमं–निम्नोन्नतं, स्थाणुं–ऊर्ध्वकाष्ठं, विजलं–विगतजलं कर्दमं परिवर्जयेत्–एतत् सर्वं परिहरेत्, तथा सङ्क्रमेण–जलगर्त्तापरिहाराय पाषाणकाष्ठरचितेन न गच्छेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात्। अपवादमाह–विद्यमाने पराक्रमे–अन्यमार्ग इत्यर्थः। असति तु तस्मिन् प्रयोजनमाश्रित्य यतनया गच्छेदिति सूत्रार्थः ॥६३॥ अवपातादौ दोपमाह–'पवडंते व' इति, प्रपतन् वाऽसौ तत्र अवपातादौ प्रस्खलन् वा संयतः–साधुः हिंस्याद्–व्यापादयेत्, प्राणिभूतानि प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयः, भूतानि–एकेन्द्रियाः, एतदेवाह–त्रसानथवा स्थावरान्, प्रपातेनात्मानं चेत्येवमुभयविराधनेति ॥ ६४ ॥ यतश्चैवं 'तम्हा' इति, तस्मात् तेन–अवपातादिमार्गेण न गच्छेत्संयतः सुसमाहितो, भगवदाज्ञावर्तीत्यर्थः। सत्यन्येनेति, अन्यस्मिन् समादौ, मार्गेणेति मार्गे छान्दसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया, असति त्वन्यस्मिन् मार्गे तेनैवावपातादिना यतमेव पराक्रमेत्, यतमिति क्रियाविशेषणं, यतमात्मसंयमविराधनापरिहारेण यायादिति ॥ ६५ ॥ अत्रैव विशेपतः पृथ्वीकाययतनामाह–'इंगालं'ति आङ्गारमित्यङ्गाराणामयमाङ्गारस्तमाङ्गारं राशिं, एवं क्षारराशिं तुषराशिं च गोमयराशिं च, राशिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। सरजस्काभ्यां

पद्भ्यां–सचित्तपृथिवीरजोगुण्डिताभ्यां पादाभ्यां संयतः साधुस्तमनन्तरोदितं राशिं नातिक्रमेत्, मा भूत् पृथ्वीरजोविराधनेति ॥ ६६ ॥ अत्रैवाप्कायादियतनामाह–'न चरेज्ज'त्ति न चरेद्वर्षे वर्षति, भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्। तथा महिकायां वा पतन्त्यां, सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति, महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोषात्, तिर्यक् संपतन्तीति तिर्यक्संपाताः–पतङ्गादयः तेषु वा सत्सु, कश्चिदप्यशनिरूपेण न चरेदिति ॥ ६७ ॥

न चरिज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणु(ण)ए। बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिआ ॥ ६८ ॥
अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं। हुज्ज वयाणं पीला, सामन्नंमि अ संसओ ॥ ६९ ॥
तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं। वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥ ७० ॥

उक्ता प्रथमव्रतयतना। सांप्रतं चतुर्थव्रतयतनोच्यते–'न चरिज्जे'त्ति 'न चरेद्वेश्यासामन्ते' न गच्छेद् गणिकागृहसमीपे, किंविशिष्ट इत्याह–ब्रह्मचर्यवशानयने (नये) ब्रह्मचर्यं–मैथुनविरतिरूपं वशमानयति–आत्मायत्तं करोति नयेत् 'तत्र' वेश्यासामन्ते 'विस्रोतसिका' तद्रूपसंदर्शनस्मरणेनापध्यानकचवरनिरोधतो ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमशस्यशोषणफला चित्तविक्रियेति ॥ ६८ ॥ एष सकृच्चरणदोषो वेश्यासामन्तसङ्गत उक्तः। साम्प्रतमिहान्यत्र चासकृच्चरणदोषमाह–' अणायणे 'त्ति अनायतने–अस्थाने वेश्यासामन्तादौ चरतो गच्छतः, संसर्गेण–सम्बन्धेनाभीक्ष्णं–पुनः

भवेद् व्रतानां–प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा, तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना भवति, श्रामण्ये च
पुनः, किमित्याह–भवेद् व्रतानां–प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा, तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना भवति, श्रामण्ये च
श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिसंधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः, कदाचिदुन्निष्क्रामत्येवेत्यर्थः। तथा च
वृद्धसंप्रदायः–"वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेण एसणाइरक्खणे(करणे) य हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छण-
अवलवणासच्चवयणं अणनुन्नायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण संसओ
उन्निक्खमणेणत्ति" सूत्रार्थः ॥ ६९ ॥ निगमयन्नाह–'तम्हे'त्ति, यस्मादेवं तस्मादेतद्विज्ञाय दोषमनन्तरोदितं दुर्गतिवर्धनं
वर्जयेद्वेश्यासामन्तं, मुनिरेकान्तं मोक्षमार्गमाश्रित इति ॥ ७० ॥ आह–प्रथमव्रतविराधनानन्तरं चतुर्थव्रतविराधनोप-
न्यासः किमर्थं?, उच्यते–प्राधान्यख्यापनार्थं, अन्यव्रतविराधनाहेतुत्वेन प्राधान्यं, तच्च लेशतो दर्शितमेवेति। अत्रैव विशेषमाह–

साणं सूइयं गावं(विं), दित्तं गोणं हयं गयं। संडिब्भं कलहं जुज्झं, दूरओ परिवज्जए ॥ ७१ ॥

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले। इंदियाणि जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥ ७२ ॥

दवदवस्स न गच्छिज्जा, भासमाणो अ गोयरे। हसंतो नाभिगच्छिज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥ ७३ ॥

आलोयं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि य। चरंतो न विनिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥ ७४ ॥

रन्नो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य। संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ ७५ ॥

पडिकुट्ठकुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए। अचियत्तकुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥ ७६ ॥
साणीपावारपिहियं, अप्पणा नावपंगुरे। कवाडं नो पणुल्लिज्जा, उग्गहंसि अजाइया ॥ ७७ ॥

'साणं' त्ति श्वानं लोकप्रतीतं, सूतां गां-अभिनवप्रसूतां, दृप्तं-दर्पितं, किमित्याह-गोणं हयं गजं, गौः-बलीवर्दः, हयः-अश्वः, गजो-हस्ती, तथा 'संडिब्भं' बालक्रीडास्थानं, कलहं-सवाक्प्रतिबद्धं, युद्धं-खड्गादिभिः, एतद्दूरतो-दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात्, श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतन-मण्डनप्रलुठनादिना संयमविराधना, सर्वत्र चात्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति सूत्रार्थः ॥ ७१ ॥ अत्रैव विधिमाह-'अणुन्नए' त्ति अनुन्नतो-द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो नाकाशदर्शी भावतो न जात्याद्यभिमानवान्, नावनतो-द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यानवनतोऽनीचकायो भावानवनतोऽलब्ध्यादिनाऽदीनः, अप्रहृष्टः-अहसन्, अनाकुलः-क्रोधादिरहितः, इन्द्रियाणि-स्पर्शनादीनि, यथाभागं-यथाविषयं, दमयित्वा-इष्टानिष्टेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषरहितो मुनिः-साधुश्चरेत्-गच्छेत्, विपर्यये तु-प्रभूतदोषप्रसङ्गात्, तथाहि-द्रव्योन्नतो लोकहास्यो, भावोन्नत ईर्यां न रक्षति, द्रव्यावनतो बक इति सम्भाव्यते, भावावनतः क्षुद्रसत्त्व इति, प्रहृष्टो योषिद्दर्शनाद्रक्त इति लक्ष्यते, आकुल एवमेव, अदान्तः प्रव्रज्यां नार्हति ॥ ७२ ॥ किं च-'दवदवस्स' त्ति द्रुतं द्रुतं-त्वरितमित्यर्थः, न गच्छेद् भाषमाणो वा गोचरे न गच्छेत्, तथा हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा, उच्चं-द्रव्यभावभेदाद् द्विविधं-द्रव्योच्चं धवलगृहवासि, भावोच्चं जात्यादियुक्तं,

इति। दोषा उभयविराधनालोकोपघातादय इति ॥७३॥ अत्रैव विधि-
एवमवचमपि द्रव्यतः कुटीरकवासि, भावतो जात्यादिहीनमिति। दोषा उभयविराधनालोकोपघातादय इति ॥७३॥ अत्रैव विधि-
माह-'आलोयं थिग्गल'मिति, आ(अव)लोकं-निर्यूहकादिरूपं, थिग्गलं-चितं द्वारादि, संधि-चितं क्षत्रं, उदकभव-
नानि-पानीयगृहाणि चरन् भिक्षार्थं न विनिज्झाइत्ति-विनिध्यायेत्-विशेषेण पश्येत्, शङ्कास्थानमेतदवलोकादि,
अतो विवर्जयेत्, तथा च नष्टादौ तत्राशङ्कोपजायत इति ॥ ७४ ॥ किं च-"रन्नो गिहे'त्यादि राज्ञः-चक्रवर्त्यादेः,
गृहपतीनां-श्रेष्ठिप्रभृतीनां रहस्यस्थानानि वर्जयेदिति योगः। आरक्षकाणां च-दण्डनायकादीनां, रहःस्थानं-गुह्या-
पवरकमन्त्रगृहादि सङ्क्लेशकरं-असदिच्छाप्रवृत्त्या मन्त्रभेदे वा कर्षणादिनेति दूरतः परिवर्जयेदिति ॥ ७५ ॥ 'पडि-
कुट्ठकुलं 'ति, प्रतिकुष्टकुलं द्विविधं-इत्वरं यावत्कथिकं च, इत्वरं सूतकयुक्तं, यावत्कथिकं-अभोज्यं एतन्न प्रविशेत्, शासन-
लघुत्वप्रसङ्गात्। मामकं यत्राह गृहपतिर्मा मम कश्चिद् गृहमागच्छेत्, एतत् वर्जयेत् भण्डनादिप्रसङ्गात्। अचिअ-
त्तकुलं-अप्रीतिकुलं यत्र प्रविशद्भिः साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति कुतश्चिन्निमित्तान्तरात्, एतदपि न
प्रविशेत्, तत्सङ्क्लेशनिमित्तत्वप्रसङ्गात्। चियत्तंति एतद्विपरीतं अचिअत्तविपरीतं प्रविशेत् कुलं, तदनुग्रहप्रसङ्गादिति
॥ ७६ ॥ किंच-'साणीपावारपिहिय'मिति शाणी-अतसीवल्कजा पटी, प्रावारः-प्रतीतः, कम्बलाद्युपलक्षणमेतत्,
एवमादिभिः पिहितं-स्थगितं, गृहमिति वाक्यशेषः। आत्मना-स्वयं, नापवृणुयात्-नोद्घाटयेदित्यर्थः। अलौकिक-
त्वेन तदन्तर्गतभुजिक्रियादिकारिणां प्रद्वेषप्रसङ्गात्। तथा कपाटं द्वारस्थगनं न प्रेरयेत्-नोद्घाटयेत् पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्,
किमविशेषतो? नेत्याह-अवग्रहमयाचित्वा-आगाढप्रयोजनेऽननुज्ञाप्यावग्रहं-विधिना धर्मलाभमकृत्वेति ॥ ७७ ॥

गोयरग्गपविट्ठो अ, वच्चमुत्तं न धारए । ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे ॥ ७८ ॥

विधिशेषमाह–' गोयरग्ग 'त्ति–गोचराग्रप्रविष्टस्तु वर्चो मूत्रं वा न धारयेत्, अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा–अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेदिति। अस्य विषयो वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायं–"पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवओगं काऊण गोयरे पविसियव्वं, कहिंचि(वि)न कओ कए वा पुणो होज्जा ताहे वच्चमुत्तं न धारेयव्वं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ हवइ, वच्चनिरोहे य जीविओवघाओ, असोहणा य आयविराहणा, जओ भणियं–"सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा। मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याविरई ॥१॥" (ओघनि० ४७) अओ संघाडि(इ)यस्स सयभायणाणि समप्पिय पडिस्सए पाणयं गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरेज्जा," वित्थरओ जहा ओहनिज्जुत्तीए ॥ ७८ ॥

णीअदुवारं तमसं, कुट्ठगं परिवज्जए । अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥ ७९ ॥

जत्थ पुप्फाइं बीयाइं, विप्पइन्नाइं कुट्ठए । अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्ठूणं परिवज्जए ॥ ८० ॥

एलगं दारगं साणं, वच्छगं वावि कुट्ठए । उल्लंघिआ न पविसे, विउहित्ताण व संजए ॥ ८१ ॥

यहा ' नीयदुवारं 'त्ति नीचद्वारं–नीचनिर्गमप्रवेशं, तमसमिति–तमोवन्तं कोष्ठकं–अपवरकं परिवर्जयेत्, न तत्र भिक्षां परिगृह्णीयात्, सामान्यापेक्षया, यत्र एवंविधो भवतीत्याह–अचक्षुर्विषयो यत्र, न चक्षुषो व्यापारो यत्रेत्यर्थः। अत्र दोषमाह–प्राणिनो दुष्प्रत्युपेक्षणीया भवन्ति, ईर्याशुद्धिर्न भवतीति सूत्रार्थः ॥ ७९ ॥ किंच–' जत्थे 'त्ति, यत्र

पुष्पाणि-जातिपुष्पादीनि, बीजानि-शालिबीजादीनि; विप्रकीर्णानि-अनेकधा विक्षिप्तानि परिहर्तुमशक्यानीत्यर्थः। कोष्ठके कोष्ठकद्वारे वा, तथाऽधुनोपलिप्तं-साम्प्रतोपलिप्तं, आर्द्रकं-अशुष्कं, कोष्ठकमन्यद्वा दृष्ट्वा परिवर्जयेत्, दूरत एव, न तु तत्र धर्मलाभं कुर्यात्, संयमात्मविराधनापत्तेरिति ॥ ८० ॥ किंच-'एलगं'ति, एडकं-मेषं, दारकं-बालं, श्वानं-मण्डलं, वत्सकं वापि-क्षुद्रवृषभलक्षणं कोष्ठके उल्लङ्घ्य पद्भ्याम् न प्रविशेत्, व्यूह्य वा-प्रेर्य वेत्यर्थः। संयतः-साधुः, आत्मसंयमविराधनादोषाल्लाघवाच्चेति ॥ ८१ ॥

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरा वलोअए। उप्फुल्लं न विनिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥ ८२ ॥

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोअरग्गगओ मुणी। कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मिअं भूमिं परक्कमे ॥ ८३ ॥

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं विअक्खणो। सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥ ८४ ॥

दगमट्टिअआयाणे, बीआणि हरिआणि अ। परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदिअसमाहिए ॥ ८५ ॥

इहैव विशेषमाह-'असंसत्तं'ति असंसक्तं प्रलोकयेत् न योषिद्दृष्टेर्दृष्टिं मीलयेदित्यर्थः, रागोत्पत्तिलोकोपघातदोषात्। तथा 'नातिदूरं प्रलोकयेत्' दायकस्यागमनमात्रदेशं प्रलोकयेत्, परतश्चौरादिशङ्कादोषः। तथोत्फुल्लं-विकसितलोचनं न निज्झाए इति-न निरीक्षेत, गृहपरिच्छदमप्यदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्तेः। तथा निवर्त्तेत गृहादलब्धेऽपि सति, अजल्पन्-दीनवचनमनुच्चारयन्निति ॥ ८२ ॥ तथा 'अइभूमिं न'ति अतिभूमिं न गच्छेद्, अननुज्ञातां गृहस्थैः,

यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः। गोचराग्रगतो मुनिः, अनेनान्यदा तद्गमनासम्भवमाह-किं तर्हि? कुलस्य भूमिं-उत्तमादिरूपामस्यां ज्ञात्वा मितां भूमिं तैरनुज्ञातां पराक्रमेत्, यत्रैषामप्रीतिर्न जायत इति ॥ ८३ ॥ विधिशेषमाह-'तत्थेव'त्ति तत्रैव-तस्यामेव मितायां भूमौ प्रत्युपेक्षेत सूत्रोक्तेन विधिना भूमिभागं-उचितं भूमिप्रदेशं, विचक्षणो-विद्वान्, अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह। तत्र च तिष्ठन् स्नानस्य तथा वर्चसः-विष्ठायाः संलोकं परिवर्जयेद्, एतदुक्तं भवति-स्नानभूमिकायिकादिभूमिसंदर्शनं परिहरेत्, प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावादिति ॥ ८४ ॥ किंच-'दग'त्ति उदकमृत्तिकादानं-आदीयतेऽनेनेत्यादानो-मार्गः, उदकमृत्तिकानयनमार्गमित्यर्थः। बीजानि-शाल्यादीनि 'हरितानि च' दूर्वादीनि, चशब्दादन्यानि च सचेतनानि परिवर्जयन्, तिष्ठदनन्तरोदिते देशे सर्वेन्द्रियसमाहितः, शब्दादिभिरव्या(नाक्षि)प्त इति ॥ ८५ ॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोअणं। अकप्पिअं न गेण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥ ८६ ॥

आहारंती सिआ तत्थ, परिसाडिज्ज भोअणं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ८७ ॥

संमद्दमाणी पाणाणि, बीआणि हरिआणि य। असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥ ८८ ॥

'तत्थ से'त्ति, तत्र कुलोचितया भूमौ से-तस्य साधोस्तिष्ठतः सतः, आहरेद्-आनयेत् पानभोजनं, गृहीति गम्यते। तत्रायं विधिः-अकल्पिकं-अनेषणीयं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकं-एषणीयं, एतच्चार्थापन्नमपि

कलिपकग्रहणं, द्रव्यतः शोभनमशोभनमपि एतदविशेपेण ग्राह्यमिति दर्शनार्थं साक्षादुक्तमिति ॥ ८६ ॥ 'आहरंति'त्ति, आहरन्ती–आनयन्ती भिक्षामगारीति गम्यते, स्यात्तत्र कदाचित्तदेकदेशं परिशाटयेत्–इतश्चेतश्च विक्षिपेत् भोजनं वा पानं वा, ततः किमित्याह–ददतीं प्रत्याचक्षीत–प्रतिषेधयेत् । तामगारीं, स्त्रियो हि प्रायो भिक्षां ददतीति स्त्रीग्रहणं, कथं प्रत्याचक्षीतेत्याह–न मे–मम कल्पते तादृशं परिशाटनावत्, समयोक्तदोपप्रसङ्गात्, दोषांश्च भावं ज्ञात्वा कथयेत् मधुविन्दूदाहरणादिनेति ॥ ८७ ॥ किंच–'सम्मद्दे'ति, संमर्दयन्ती पद्भ्याम् समाक्रामन्ती, कानित्याह–प्राणिनो–द्वीन्द्रियादीन्, बीजानि–शालिबीजादीनि, हरितानि–दूर्वादीनि, असंयमकरीं–साधुनिमित्तमसंयमकरणशीलां ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत्, ददतीं प्रत्याचक्षीतेति ॥ ८८ ॥

साहट्टु निक्खिवित्ता णं, सचित्तं घट्टिआणि अ । तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिआ ॥ ८९ ॥
ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहरे पाणभोअणं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ९० ॥
पुरेकम्मेण हत्थेण, दवीए भाअणेण वा। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ९१ ॥
एवं उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआउसे । हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥
गेरुअवन्निअसेढिअसोरट्ठिअपिट्ठकुक्कुसकए य । उक्किट्ठमसंसट्ठे, संसट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥ ९२ ॥

'साहट्टु'त्ति, संहृत्यान्यस्मिन् भाजने ददाति, "तं फासुगमवि वजए, तत्थ फासुए फासुयं साहरइ, फासुए अफासुयं साहरइ, अफासुए फासुयं साहरइ, अफासुए अफासुयं साहरइ ४, तत्थ जं फासुए फासुयं साहरइ, तत्थवि थेवे थेवं साहरइ, थेवे बहुं साहरइ, बहुए थेवं साहरइ, बहुए बहुयं साहरइ ४" एवमादि यथा पिण्डनिर्युक्तौ। तथा निक्षिप्य भाजनगतमदेयं षड्जीवनिकायिकेषु ददाति तथा सचित्तं-अलातपुष्पादि घट्टयित्वा-संचाल्य च ददाति। तथैव श्रमणार्थं-प्रव्रजितनिमित्तमुदकं संप्रणुद्य भाजनस्थं प्रेर्य ददाति ॥ ८९॥ तथा ओगाहइत्ता-अवगाह्य-उदकमेवात्मनोऽभिमुखमाकृष्य ददाति। तथा चालयित्वा उदकमेव ददाति, उदके नियमादनन्तवनस्पतिरिति प्राधान्यख्यापनार्थं सचित्तं घट्टयित्वेत्युक्तेऽपि भेदेनोपादानं अस्ति चायं न्यायः-"यदुत सामान्यग्रहणेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपादानं, यथा-ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात" इति, ततश्चोदकं चालयित्वा आहरेद् आनीय दद्यादित्यर्थः। किं तदित्याह-पानभोजनं-ओदनारनालादि। तदित्थम्भूतां ददतीं प्रत्याचक्षीत-निराकुर्यात् न मम कल्पते तादृशमिति पूर्ववदेवेति सूत्रद्वयार्थः ॥ ९० ॥ 'पुरेकम्मे'त्ति, पुरः कर्मणा हस्तेन-साधुनिमित्तं प्राक्कृतजलोज्झनव्यापारेण, तथा दर्व्या-डोवसदृशया, भाजनेन वा-कांस्यभाजनादिना ददतीं प्रत्याचक्षीत-प्रतिषेधयेत्, न मम कल्पते तादृशमिति पूर्ववदेव इति सूत्रार्थः ॥ ९१ ॥ एवं, एवं-उदकार्द्रेण, हस्तेन-करेण, उदकार्द्रो नाम गलदुदकबिन्दुयुक्तः। एवं सस्निग्धेन हस्तेन, सस्निग्धो नाम ईषदुदकयुक्तः, एवं सरजस्केन हस्तेन-सरजस्को नाम पृथिवीरजोगुण्डितः। एवं मृद्गतेन हस्तेन, मृद्गतो नाम कर्दमयुक्तः। एवं ऊषादिष्वपि योज्यं। एतावन्त्येव एतानि सूत्राणि नवरमूषः-पांशुक्षारः, हरिताल-

हिङ्गुलकमनःशिलाः-पार्थिवाः वर्णकभेदाः, अञ्जनं-रसाञ्जनादि, लवणं-सामुद्रादि ॥ ९२ ॥ तथा 'गेरुय'त्ति,
गैरु(रि)को-धातुः, वर्णिका-पीतमृत्तिका, सेटिका-खटिका, श्वेतिका-शुक्लमृत्तिका, सौराष्ट्रिका-तुवरिका, पिष्टं-आम-
तण्डुलक्षोदः, कुक्कुसाः-प्रतीताः, कृतेनेत्येभिः कृतेन, हस्तेनेति गम्यते । तथा उत्कृष्ट इत्युत्कृष्टशब्देन कालिङ्गालाबुत्रपुप-
फलादीनां शस्त्रकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते । चिञ्चिणिकादि-पत्रसमुदायो वा उदुखलख(क)ण्डित इति, तथाऽसंसृष्टो-
व्यञ्जनादिनाऽलिप्तः, संसृष्टश्चैव व्यञ्जनादिलिप्तो बोद्धव्यो हस्त इति । विधिं पुनरत्रोर्ध्वं स्वयमेव वक्ष्यतीति ॥ ९३ ॥

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा । दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥९४॥

संसट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा । दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणिअं भवे ॥९५॥

आह च—असंसट्ठेणत्ति, असंसृष्टेन हस्तेनान्नादिभिरलिप्तेन दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं नेच्छेत्, किं
सामान्येन ?, नेत्याह-पश्चात्कर्म यत्र भवति दध्यादौ, शुष्कमण्डकादिवत् तदन्यदोषरहितं गृह्णीयादिति ॥ ९४ ॥
'संसट्ठेणे'ति संसृष्टेन हस्तेनान्नादिलिप्तेन, तथा दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं प्रतीच्छेत्-गृह्णीयात्, किं
सामान्येन ?, नेत्याह-यत् तत्रैषणीयं भवति तदन्यदोषरहितमित्यर्थः। इह च वृद्धसम्प्रदायः-"संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते
सावसेसे दव्वे, संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते निरवसेसे दव्वे, एवं अट्ठभंगा, एत्थ पढमो भंगो सव्वुत्तमो, अन्नेसुवि जत्थ सावसेसं
दव्वं तत्थ घेप्पइ, न इयरेसु, पच्छाकम्मदोसाओ"त्ति ॥ ९५ ॥ किंच—

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए। दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥ ९६ ॥
दुण्हं तु भुंजमाणाणं, दोवि तत्थ निमंतए। दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणिअं भवे ॥ ९७ ॥
गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोअणं। भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ९८ ॥
सिआ अ समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी। उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥ ९९ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १०० ॥
थणगं पिज्जेमाणी, दारगं वा कुमारिअं। तं निक्खिवित्तु रोअंतं, आहरे पाणभोअणं ॥ १०१ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १०२ ॥
जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पंमि संकिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १०३ ॥

'दोण्हं तु'त्ति, द्वयोर्भुञ्जतोः पालनां कुर्वतोः, एकस्य वस्तुनो नायकयोरित्यर्थः। एकस्तत्र निमन्त्रयेत्–तद्दानं प्रत्यामन्त्रयेत्, तद्दीयमानं नेच्छेदुत्सर्गतः, अपितु छन्दं–अभिप्राय, से–तस्य द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रविकारैः, किमस्येदमिष्टं दीयमानं न वेति, इष्टं चेत् गृह्णीयात्, न चेन्नेति। एवं भुञ्जानयोः–अभ्यवहारायोद्यतयोरपि योजनीयं। यतो "भुजिः–पालने अभ्यवहारे च" वर्तत इति ॥ ९६ ॥ तथा 'दुण्हं तु' द्वयोस्तु पूर्ववद् भुञ्जतोर्भुञ्जानयोर्वा द्वावपि तत्रा-

मि(ति)प्रसादेन निमन्त्रयेयातां, तत्रायं विधिः—दीयमानं प्रतीच्छेत्-गृह्णीयात् यत् तत्रैषणीयं भवेदिति, तदन्यदोषरहितमिति ॥ ९७ ॥ विशेषमाह-'गुव्विणीए'त्ति, गुर्विण्या-गर्भवत्या, उपन्यस्तं-उपकल्पितं, किं तदित्याह-विविधं-अनेकप्रकारं, पानभोजनं-द्राक्षापानखण्डखाद्यकादि, तत्र भुज्यमानं तया विवर्ज्य, मा भूत्तस्या अल्पत्वेनाभिलाषानिवृत्त्या गर्भपातादिदोष इति । भुक्तशेषं-भुक्तोद्धरितं प्रतीच्छेत् यत्र तस्या निवृत्तोऽभिलाष इति ॥ ९८ ॥ किंच-'सिया ये'त्ति स्याच्च-कदाचिच्च श्रमणार्थं-साधुनिमित्तं गुर्विणी पूर्वोक्ता कालमासवर्तिनी-गर्भाधानान्नवममासवर्तिनीत्यर्थः । उत्थिता वा यथा कथञ्चित् निषीदेन्निषण्णा वा ददामीति साधुनिमित्तं, निषण्णा वा स्वव्यापारेण पुनरुत्तिष्ठेत् ददामीति साधुनिमित्तमेवेति ॥ ९९ ॥ 'तं भवे'इति, तद् भवेद् भक्तपानं तु तथानिषीदनोत्थानाभ्यां दीयमानं संयतानामकल्पिकं, इह च "स्थविरकल्पिकानामनिषीदनोत्थानाभ्यां यथावस्थिततया दीयमानं कल्पिकं, जिनकल्पिकानां तु आपन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवे"ति सम्प्रदायः । यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमित्येतत्पूर्ववदेवेति ॥ १०० ॥ किञ्च-थणगंति, स्तनं(न्यं) पाययन्ती, किमित्याह-दारकं कुमारिकां वा, वाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, अत एव नपुंसकं वा, तद्दारकादि निक्षिप्य रुदन् भूम्यादौ आहरेत् पानभोजनं, अत्रायं वृद्धसम्प्रदायः "गच्छवासी जइ थणजीवी पिवंतो निक्खित्तो तो न गिण्हइ, रोवउ वा मा वा, अह अन्नंपि आहारेइ तो जइ न रोवइ तो गिण्हइ, अह रोवइ तो न गेण्हइ, अह अपियंतो निक्खित्तो थणजीवी रोवइ तो न गेण्हति, अह ण रोवति तो गेण्हति, गच्छनिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ मा वा पियंतो वा अपियंतो वा

न गिण्हंति, जाहे अन्नंपि आहारेउमाढत्तो हवइ ताहे जइ पियंतओ रोवइ वा मा वा न गेण्हंति, अह अपियंतओ तो जइ रोवइ तो परिहरंति, अरोविए गिण्हंति, सीसो आह–को तत्थ दोसोत्ति ?, आयरिया भणंति–तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घेप्पमाणस्स अथिरत्तणेण परितावणादोसा मज्जाराइ वा अवहरिज्ज"त्ति ॥१०१॥ 'तं भवे भत्तपाणं'ति, तद्भवेद्भक्तपानं तु अनन्तरोदितं संयतानामकल्पिकं। यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १०२ ॥ किं च बहुनोक्तेन, उपदेशसर्वस्वमाह–'जं भवे'त्ति यद् भवेद् भक्तपानं तु कल्पाकल्पयोः–कल्पनीयाकल्पनीयधर्मविषय इत्यर्थः । किम् ?, शङ्कितं–न विद्मः किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं किंवा नेत्येवमाशङ्कास्पदीभूतं, तदित्थम्भूतमसति कल्पनीयनिश्चये ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १०३ ॥

दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा । लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेणावि केणइ ॥१०४॥

तं च उब्भिंदिआ दिज्जा, समणट्ठाए व दावए। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१०५॥

किञ्च–'दगवारेण पिहियं'ति दकवारेण उदककुम्भेन पिहितं–स्थगितं भाजनस्थं, तथा नीसाएत्ति पेषण्या, पीठकेन–काष्ठपीठादिना, लोढेन चापि शिलापुत्रकेण, तथा लेपेन–मृल्लेपादिना, श्लेषेण केनचिज्जतुसिक्थादिनेति ॥१०४॥ 'तं च'त्ति तच्च उद्भिद्य दद्यात्, स्थगितं लिप्तं सद् उद्भिद्य दद्यात् श्रमणार्थं दायकः, नात्मार्थं, तदित्थम्भूतं ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १०५ ॥

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा। जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥ १०६ ॥
तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १०७ ॥
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा। जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥ १०८ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १०९ ॥
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा। जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥ ११० ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १११ ॥
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा। जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥ ११२ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ११३ ॥

किञ्च—'असणं'ति, अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं, तद्यथा—ओदनआरनालादिलड्डुकहरीतक्यादि, यज्जानीयादामन्त्रणादिना, शृणुयाद्वान्यतो यथा दानार्थं प्रकृतमिदं, दानार्थं प्रकृतं नाम साधुवादनिमित्तं यो ददाति अव्यापारपाषण्डिभ्यो [वा] देशान्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति सूत्रार्थः ॥ १०६ ॥ 'तारिसं'ति, तादृशं भक्तपानं दानार्थं प्रकृतमव्यापारं संयतानामकल्पिकं। यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥१०७॥ 'असणं'ति,

एवं पुण्यार्थं प्रकृतमिदं, पुण्यार्थं प्रकृतं नाम साधुवादानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति ॥ १०८ ॥ एवं वनीपकार्थं वनीपकाः-कृपणाः ॥ ११० ॥ एवं श्रमणार्थमिति, श्रमणा-निर्ग्रंथाः, शाक्यादयः ॥ ११२ ॥ अस्य निषेधः पूर्ववत् ॥ ११३ ॥

उद्देसिअं कीअगडं, पूइकम्मं च आहडं । अज्झोयर पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥ ११४ ॥

किंच-'उद्देसिअं'ति-उद्दिश्य कृतमौद्देशिकं-उद्दिष्टकृतकर्मादिभेदं, क्रीतकृतं-द्रव्यभावक्रयक्रीतभेदं, पूतिकर्म च-सम्भाव्यमानाधाकर्मावयवसंमिश्रलक्षणं, आहृतं-स्वग्रामाहृतादि, तथाऽध्यवपूरकं-स्वार्थमूलाद्रहणप्रक्षेपरूपं, प्रामित्यं-साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणं, मिश्रजातं च-आदित एव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतरूपं वर्जयेदिति ॥ ११४ ॥

उग्गमं से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं । सुच्चा निस्संकिअं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ॥११५॥

संशयव्यपोहायोपायमाह-' उग्गमं 'ति-उद्गमं-तत्प्रसूतिरूपं, ' से ' तस्य शङ्कितस्य अशनादेः पृच्छेत् तत्स्वामिनं कर्मकरं वा, यथा कस्यार्थमेतत् ? केन वा कृतमेतदिति, श्रुत्वा तद्वचो न मदर्थं, किं त्वन्यार्थमित्येवम्भूतं निःशङ्कितं शुद्धं सद्गुत्पादिमार्गत्या प्रतिगृह्णीयात् संयतः । विपर्ययग्रहणे दोषादिति ॥ ११५ ॥

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा । पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥ ११६ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ११७ ॥

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा । उदगंमि हुज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ११८ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ११९ ॥
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा। तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिआ दए ॥ १२० ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १२१ ॥

एवं उस्सक्किआ ओसक्किआ, उज्जालिया पज्जालिआ निव्वाविआ ।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, उव्वत्तिया ओयारिया दए ॥ १२२ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पिअं । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १२३ ॥

भवेदुन्मिश्रं बीजैर्हरि-
तथा 'असणं'ति-अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा, पुष्पैः-जातिपाटलादिभिः भवेदुन्मिश्रं बीजैर्हरि- यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न
तैर्वेति ॥ ११६ ॥ 'तं भवे'त्ति-तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न स्वाद्यं तथा, उदके
मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥११७॥ तथा 'असणं'ति सूत्रं, अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा, उदके
भवेन्निक्षिप्तमुत्तिङ्गपनकेषु वा कीटिकानगरोष्ठिपु वेत्यर्थः। उदकनिक्षिप्तं द्विविधं-अनन्तरं परम्परं च, अनन्तरं नवनीत-
पोग्गलियमादि, परंपरं जलघडोवरिभायणत्थं दधिमादि, एवं उत्तिंगपणगेसु भावनीयमिति ॥ ११८ ॥ 'तं भवे'त्ति सूत्रं,
तद्भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते, तादृशमिति सूत्रार्थः

॥ १ ग'त्ति सूत्रं, अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा, तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, तेजसीत्यग्नौ तेजस्काय इत्यर्थः । तच्च संघट्ट्य, यावद् भिक्षां ददामि तावत् तापातिशयेन मा भूदुद्वर्तिष्यत इत्यपोह्य दद्यादिति ॥ १२० ॥ 'तं भवे'त्ति-तद् भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १२१ ॥ एवमुस्सक्किय'त्ति-यावद् भिक्षां ददामि तावन्मा भूद्विध्यास्यतीत्युत्सिच्य दद्यात्, एवं ओसक्किया-अरमण्याविदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः, एवं 'उज्जालिया पज्जालिया' उज्ज्वाल्य-अर्द्धविध्यातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण, प्रज्वाल्य-पुनः पुनः, एवं निव्वाविया-निर्वाप्य दाहभयादेवेति भावः, एवमुस्सिंचिया निस्सिंचिया-उत्सिच्य-अतिभृतादुज्झनभयेन ततो वा दानार्थं तीमनादि, निषिच्य-तद्भाजनाद्रहितं द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात्, उद्वर्तनभयेन वा तदार्द्र(आर्द्र)-हितमुदकेन निषिच्य, एवं ओवत्तिया-ओवारिया, 'अपवर्त्य-तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेनान्येन वा दद्यात्, तथा 'अवतार्य' दाहभयाद्दानार्थं वा दद्यात् । तदेतत्सर्वं साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥ १२२ ॥ 'तं भवे' सूत्रं पूर्ववत् ॥ १२३ ॥

हुज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया । ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ॥ १२४ ॥
ण तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो । गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिअसमाहिए ॥१२५॥
निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ता णमारुहे । मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठा एव दावए ॥१२६॥
दुरूहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए । पुढविजीवे विहिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिआ जगे ॥१२७॥

एयारिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो । तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ॥१२८॥

गोचराधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य होज्जत्ति, भवेत् काष्ठं शिलां वापि इट्टालं वापि, एकदा-एकस्मिन् काले प्रावृडादौ स्थापितं सङ्क्रमार्थं तच्च भवेच्चलाचलं-अप्रतिष्ठितं, न च भवेत् स्थिरमेवेति सूत्रार्थः ॥ १२४ ॥ 'न तेण' त्ति सूत्रं, न तेन काष्ठादिना भिक्षुर्गच्छेत्, किमित्याह-दृष्टस्तत्रासंयमः, तच्चलने प्राण्युपमर्दनसम्भवात्। तथा गम्भीरं-अप्रकाशं, शुषिरं-चैवान्तःसाररहितं, सर्वेन्द्रियसमाहितः-शब्दादिषु रागद्वेषावगच्छन् परिवर्जयेदिति ॥ १२५ ॥ किञ्च-'निस्सेणी'ति सूत्रं, निःश्रेणिं फलकं पीठं उस्सवित्ता-उत्सृत्योर्ध्वं कृत्वेत्यर्थः, आरोहेत्, मञ्चं कीलकं चोत्सृज्य, कमारोहेदित्याह-प्रासादं, श्रमणार्थं-साधुनिमित्तं, दायको-दाता आरोहेत्, एतद्दुष्टमिति ॥१२६॥ अत्र दोषमाह-'दुरूहमाणी'त्ति, आरोहन्ती प्रपतेत्, प्रपतन्ती च हस्तं वा पादं वा लूषयेत्-भञ्ज्यात् ... , तथा पृथिवीजीवान् विहिंस्यात् कथञ्चित्तत्स्थान् तथा यानि च तन्निश्रितानि जगन्ति-प्राणिनस्तांश्च हिंस्यादिति ॥ १२७ ॥ 'एयारिसे'त्ति-ईदृशान् अनन्तरोदितरूपान् महादोषान् ज्ञात्वा महर्षयः-साधवो, यस्मादू दोषकारिणी तस्मादू मालापहृतां-मालोपनीतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति संयताः। पाठान्तरं वा हंदि मालोहडं भिक्खं ... ॥१२८॥

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं । तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥ १२९ ॥

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे । सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ १३० ॥

॥ ११९ ॥ तथा 'असण'ति सूत्रं, अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा, तेजसि अग्नौ निक्षिप्तं, तेजस्कायिकेष्वित्यर्थः । तथ सङ्घट्टय, यावद् भिक्षां ददामि तावत् पातादिभयेन वा भूयः निम्नगतं इत्यादि दद्यादिति ॥ १२० ॥
'तं भवे'त्ति-तद् भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १२१ ॥ एवमुस्सक्किय'त्ति-यावद् भिक्षां ददामि तावन्मा भूद्विध्यास्यतीत्युल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः, एवं 'उज्जालिया पज्जालिया' उज्ज्वाल्य-अर्द्धविध्यातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण, प्रज्वाल्य-पुनः पुनः, एवं निव्वाविया-निर्वाप्य दाहभयादेवेति भावः, एवमुस्सिंचिया निस्सिंचिया-उत्सिच्य-अतिभृतादुज्झनभयेन ततो वा दानार्थं तीमनादि, निषिच्य-तद्भाजनाद्गृहीतं द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात्, उद्वर्त्तनभयेन वा तदार्द्र(शार्द्र)-हिमोदकेन निषिच्य, एवं ओवत्तिया-ओवारिया, 'अपवर्त्य-तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेनान्येन वा दद्यात्, तथा 'अवतार्य' दाहभयाद्दानार्थं वा दद्यात् । एतदन्यच साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥ १२२ ॥ 'तं भवे' सूत्रं पूर्ववत् ॥ १२३ ॥

हुज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया । ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ॥ १२४ ॥
ण तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो । गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिअसमाहिए ॥१२५॥
निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ता णमारुहे । मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठा एव दावए ॥१२६॥
दुरूहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए । पुढविजीवे विहिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिआ जगे ॥१२७॥

एयारिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो। तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ॥१२८॥

गोचराधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य होज्जत्ति, भवेत् काष्ठं शिलां वापि इट्टालं वापि, एकदा-एकस्मिन् काले प्रावृडादौ स्थापितं सङ्क्रमार्थं तच्च भवेच्चलाचलं-अप्रतिष्ठितं, न च भवेत् स्थिरमेवेति सूत्रार्थः ॥ १२४ ॥ 'न तेणं' ति सूत्रं, न तेन काष्ठादिना भिक्षुर्गच्छेत्, किमित्याह-दृष्टस्तत्रासंयमः, तच्चलने प्राण्युपमर्दसम्भवात्। तथा गम्भीरं-अप्रकाशं, शुषिरं-चैवान्तःसाररहितं, सर्वेन्द्रियसमाहितः-शब्दादिषु रागद्वेषावगच्छन् परिहरेदिति ॥ १२५॥ किञ्च-'निस्सेणी'ति सूत्रं, निःश्रेणिं फलकं पीठं उस्सविता-उत्सृत्योर्ध्वं कृत्वेत्यर्थः, आरोहेत्, मञ्चं कीलकं चोत्सृत्य, कमारोहेदित्याह-प्रासादं, श्रमणार्थ-साधुनिमित्तं, दायको-दाता आरोहेत्, एतदप्यग्राह्यमिति ॥१२६॥ अत्रैव दोषमाह-'दुरूहमाणि'त्ति, आरोहन्ती प्रपतेत्, प्रपतन्ती च हस्तं वा पादं वा लूषयेत्-स्वकं स्वत एव खण्डयेत्, तथा पृथिवीजीवान् विहिंस्यात् कथञ्चित्तत्रस्थान् तथा यानि च तन्निश्रितानि जगन्ति-प्राणिनस्तांश्च हिंस्यादिति ॥ १२७॥ 'एयारिसे'त्ति-इदृशान् अनन्तरोदितरूपान् महादोषान् ज्ञात्वा महर्षयः-साधवो, यस्माद् दोषकारिणीं तस्माद् मालापहृतां-मालोपनीतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति संयताः। पाठान्तरं वा हंदि मालापहृतामिति, हंदीत्युपदर्शनमिति ॥१२८॥

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं। तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥ १२९ ॥

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे। सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ १३० ॥

एयारिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो । तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ॥१२८॥

गोचराधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य होज्जत्ति, भवेत् काष्ठं शिलां वापि इट्टालं वापि, एकदा-एकस्मिन् काले प्रावृडादौ स्थापितं सङ्क्रमार्थं तच्च भवेच्चलाचलं-अप्रतिष्ठितं, न च भवेत् स्थिरमेवेति सूत्रार्थः ॥ १२४ ॥ 'न तेणं' ति सूत्रं, न तेन काष्ठादिना भिक्षुर्गच्छेत्, किमित्याह-दृष्टस्तत्रासंयमः, तच्चलने प्राण्युपमर्दसम्भवात्। तथा गम्भीरं-अप्रकाशं, शुषिरं-चैवान्तःसाररहितं, सर्वेन्द्रियसमाहितः-शब्दादिषु रागद्वेषावगच्छन् परिहरेदिति ॥ १२५॥ किञ्च-'निस्सेणी'ति सूत्रं, निःश्रेणिं फलकं पीठं उस्सवित्ता-उत्थाप्योर्ध्वं कृत्वेत्यर्थः, आरोहेत्, मञ्चं कीलकं चोत्सृत्य, कमारोहेदित्याह-प्रासादं, श्रमणार्थं-साधुनिमित्तं, दायको-दाता आरोहेत्, एतद्ग्रहणमिति ॥१२६॥ अत्रैव दोषमाह-'दुरूहमाणि'त्ति, आरोहन्ती प्रपतेत्, प्रपतन्ती च हस्तं वा पादं वा लूषयेत्-स्वकं शरीरं एव खण्डयेत्, तथा पृथिवीजीवान् विहिंस्यात् कथञ्चित्तन्निश्रितान् तथा यानि च तन्निश्रितानि जगन्ति-प्राणिनस्तांश्च हिंस्यादिति ॥ १२७॥ 'एयारिसे'त्ति-ईदृशान् अनन्तरोदितरूपान् महादोषान् ज्ञात्वा महर्षयः-साधवो, यस्माद् दोषकारिणी तस्माद् मालापहृतां-मालोपनीतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति संयताः। पाठान्तरं वा हंदि मालापहृतामिति, हंदीत्युपदर्शनमिति ॥१२८॥

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं । तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥ १२९ ॥

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे । सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ १३० ॥

॥ ११९ ॥ तथा 'असण'त्ति सूत्र, अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा, तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, तेजसीत्यग्नौ तेजस्काय इत्यर्थः । तच्च सङ्घट्टय, यावद् भिक्षां ददामि तावत् तापातिशयेन मा भूदुद्वर्तिष्यत इत्यपोह्य दद्यादिति ॥ १२० ॥ 'तं भवे'त्ति-तद् भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १२१ ॥ एवमुस्सक्किय'त्ति-यावद् भिक्षां ददामि तावन्मा भूद्विध्यास्यतीत्युत्सिच्य दद्याद्, एवं ओसक्किया-अवमर्प्य-विदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः, एवं 'उज्जालिया पज्जालिया' उज्ज्वाल्य-अर्द्धविध्यातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण, प्रज्वाल्य-पुनः पुनः, एवं निव्वाविया-निर्वाप्य दाहभयादेवेति भावः, एवमुस्सिंचिया निस्सिंचिया-उत्सिच्य-अतिभृतादुज्झनभयेन ततो वा दानार्थं तीमनादि, निषिच्य-तद्भाजनाद्रहितं द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्याद्, उद्वर्त्तनभयेन वा तदार्द्र(आर्द्र)-हितमुदकेन निषिच्य, एवं ओवत्तिया-ओवारिया, 'अपवर्त्य-तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेनान्येन वा दद्यात्, तथा 'अवतार्य' दाहभयाद्दानार्थं वा दद्यात् । तचदन्यच्च साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥ १२२ ॥ 'तं भवे' सूत्रं पूर्ववत् ॥ १२३ ॥

हुज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया । ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ॥ १२४ ॥

ण तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो । गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिअसमाहिए ॥१२५॥

निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ता णमारुहे । मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठा एव दावए ॥१२६॥

दुरूहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए । पुढविजीवे विहिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिआ जगे ॥१२७॥

न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १३३ ॥ उक्तोऽशनविधिः । साम्प्रतं पानविधिमाह–

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोअणं । संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोअं विवज्जए ॥ १३४ ॥

जं जाणेज्ज चिराधोयं, मईए दंसणेण वा । पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकिअं भवे ॥ १३५ ॥

अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए । अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोयए ॥ १३६ ॥

थोवमासायणट्ठाए, हत्थगंमि दलाहि मे । मा मे अच्चंबिलं पूअं, नालं तण्हं विणित्तए ॥ १३७ ॥

तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १३८ ॥

च होज्ज अकामेण, विमणेणं पडिच्छिअं । तं अप्पणा न पिबे, नोऽवि अन्नस्स दावए ॥ १३९ ॥

मवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ । जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ १४० ॥

'त्ति–तथैव यथा अशनमुच्चावच्चं तथा पानं, उच्चं–वर्णाद्युपेतं द्राक्षापानादि, अवचं–वर्णादिहीनं दि, अथवा वारकधावनं–गुडघटधावनादीत्यर्थः । संस्वेदजं–पिष्टोदकादि, एतदशनवदुत्सर्गापवादाभ्यां वाक्यशेषः । तन्दुलोदकं त्वङ्किरकं (व्रीहिदकं) अधुनाधौतमपरिणतं विवर्जयेदिति ॥ १३४ ॥ अत्रैव वधिमाह–' जं जाणेज्ज 'त्ति सूत्रं, तन्दुलोदकं जानीयात्–विन्द्यात्, चिरधौतं, कथं जानीयादित्याह–मत्या दर्शनेन

विक्कायमाणं पसढं, रएणं परिफासिअं। दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १३१ ॥
बहुअट्ठिअं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं। अच्छिअं तिंदुअं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥ १३२ ॥
अप्पे सिआ भोअणज्जाए, बहुउज्झियधम्मिअं। देंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ १३३ ॥

प्रतिषेधाधिकार एवाह–'कंदं मूलं'ति–कन्दं–सूरणादिलक्षणं, मूलं–पिण्डादिवृन्दारिकादिरूपं, प्रलम्बं वा–तालफलादि, आमं छिन्नं च सन्निर–सन्निरमिति पत्रशाकं तुम्बाकं त्वगिमज्जान्तवर्त्यार्द्रा वा तुलसीमित्यन्ये, शृङ्गबेरं च–आर्द्रकं, आमकं परिवर्जयेदिति ॥ १२९ ॥ 'तहेव'त्ति–तथैव सक्तुचूर्णान्, कोलचूर्णान्–बदरसक्तून् आपणे–वीथ्यां, तथा शष्कुलि–तिलपर्पटिका, फाणितं–द्रवगुडं, पूयं–कणिक्कादिमयं, अन्यद्वा तथाविधं मोदकादि ॥ १३० ॥ किमित्याह–'विक्कायं'त्ति विक्कायमाण–विक्रीयमाणमापण इति वर्तते। प्रसह्यमनेकदिनस्थापनेन प्रकटमत एव रजसा पार्थिवेन परिस्पृष्टं–व्याप्तं, तदित्थम्भूत तु ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ १३१ ॥ किञ्च–बहुअट्ठियं पोग्गल-मिति–बहुस्थिकं पुद्गलं–मांसं, अनिमिषं वा मत्स्यं वा बहुकण्टकं, अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः। अन्ये त्वभिदधति–"वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते" इति। तथा चाह–अस्थिकं–अस्थिकवृक्षफलं, तिंदुकंत्ति–तेन्दु-कीफलं, बिल्वं इक्षुखण्डं च प्रतीते, शाल्मलिं वा वल्लादिफलं, वाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्ध इति ॥ १३२ ॥ अत्रैव दोषमाह–'अप्पे'त्ति अल्पं स्यात्, भोजनजातमत्र तथा बहूज्झनधर्मकमेतद्यतश्चैवं अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत

न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १३३ ॥ उक्तोऽशनविधिः । साम्प्रतं पानविधिमाह–

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोअणं । संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोअं विवज्जए ॥ १३४ ॥
जं जाणेज्ज चिराधोयं, मईए दंसणेण वा। पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकिअं भवे ॥ १३५ ॥
अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए । अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोयए ॥ १३६ ॥
थोवमासायणट्ठाए, हत्थगंमि दलाहि मे । मा मे अच्चंबिलं पूअं, नालं तण्हं विणित्तए ॥ १३७ ॥
तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १३८ ॥
तं च होज्ज अकामेण, विमणेणं पडिच्छिअं । तं अप्पणा न पिवे, नोऽवि अन्नस्स दावए ॥ १३९ ॥
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ । जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ १४० ॥

'तहेव'त्ति–तथैव यथा अशनमुच्चावचं तथा पानं, उच्चं–वर्णाद्युपेतं द्राक्षापानादि, अवचं–वर्णादिहीनं पूत्यारनालादि, अथवा वारकधावनं–गुडघटधावनादीत्यर्थः । संस्वेदजं–पिष्टोदकादि, एतदशनवदुत्सर्गापवादाभ्यां गृह्णीयादिति वाक्यशेषः । तन्दुलोदकं त्वड्किरकं(व्रीहिदकं) अधुनाधौतमपरिणतं विवर्जयेदिति ॥ १३४ ॥ अत्रैव विधिमाह–' जं जाणेज्ज'त्ति सूत्रं, तन्दुलोदकं जानीयात्–विन्द्यात्, चिरधौतं, कथं जानीयादित्याह–मत्या दर्शनेन

विक्कायमाणं पसढं, रएणं परिफासिअं। दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १३१ ॥
बहुअट्ठिअं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं। अच्छिअं तिंदुअं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥ १३२ ॥
अप्पे सिआ भोअणजाए, बहुउज्झियधम्मिअं। देंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १३३ ॥

प्रतिषेधाधिकार एवाह–'कंदं मूलं'ति–कन्दं–सूरणादिलक्षणं, मूलं–पिण्डादिवृन्दारिकादिरूपं, प्रलम्बं वा–तालफलादि, आमं छिन्नं च सन्निरं–मन्निरमिति पत्रशाकं तुम्बाकं त्वगिमञ्जान्तर्वर्त्यार्द्रा वा तुलसीमित्यन्ये, शृङ्गबेरं च–आर्द्रकं, आमकं परिवर्जयेदिति ॥ १२९ ॥ 'तहेव'त्ति–तथैव सक्तुचूर्णान्, कोलचूर्णान्–बदरसक्तून् आपणे–वीथ्यां, तथा शष्कुलिं तिलपर्प्पटिकां, फाणितं–द्रवगुडं, पूपं–कणिक्कादिमयं, अन्यद्वा तथाविधं मोदकादि ॥ १३० ॥ किमित्याह–'विक्कायें'त्ति विक्कायमाणं–विक्रीयमाणमापण इति वर्त्तते। प्रसह्यमनेकदिनस्थापनेन प्रकटमत एव रजसा पार्थिवेन परिस्पृष्टं–व्याप्तं, तदित्यम्भूतं तु ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ १३१ ॥ किञ्च–बहुअट्ठियं पोग्गलमिति–बहुस्थिकं पुद्गलं–मांसं, अनिमिषं वा मत्स्यं वा बहुकण्टकं, अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः। अन्ये त्वभिदधति–"वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते" इति। तथा चाह–अस्थिकं–अस्थिकवृक्षफलं, तिंदुकंत्ति–तेन्दुकीफलं, बिल्वं इक्षुखण्डं च प्रतीते, शाल्मलिं वा वल्लादिफलं, वाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्ध इति ॥ १३२ ॥ अत्रैव दोषमाह–'अप्पे'त्ति. अल्पं स्यात्, भोजनजातमत्र तथा बहूज्झनधर्मकमेतद्यतथैवं अतो.ददतीं प्रत्याचक्षीत

न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १३३ ॥ उक्तोऽशनविधिः । साम्प्रतं पानविधिमाह–

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोअणं । संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोअं विवज्जए ॥ १३४ ॥
जं जाणेज्ज चिराधोयं, मईए दंसणेण वा। पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकिअं भवे ॥ १३५ ॥
अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए । अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोयए॥ १३६ ॥
थोवमासायणट्ठाए, हत्थगंमि दलाहि मे । मा मे अच्चंबिलं पूअं, नालं तण्हं विणित्तए॥ १३७ ॥
तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १३८ ॥
तं च होज्ज अकामेण, विमणेणं पडिच्छिअं । तं अप्पणा न पिबे, नोऽवि अन्नस्स दावए ॥ १३९॥
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ । जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ १४० ॥

'तहेव'त्ति–तथैव यथा अशनमुच्चावचं तथा पानं, उच्चं–वर्णाद्युपेतं द्राक्षापानादि, अवचं–वर्णादिहीनं पूत्यारनालादि, अथवा वारकधावनं–गुडघटधावनादीत्यर्थः । संस्वेदजं–पिष्टोदकादि, एतदशनवदुत्सर्गापवादाभ्यां गृह्णीयादिति वाक्यशेषः । तन्दुलोदकं त्वड्किरकं(व्रीहिदकं) अधुनाधौतमपरिणतं विवर्जयेदिति ॥ १३४ ॥ अत्रैव विधिमाह–' जं जाणेज्ज'त्ति सूत्रं, तन्दुलोदकं जानीयात्–विन्द्यात्, चिरधौतं, कथं जानीयादित्याह–मत्या दर्शनेन

गा, मत्या-तद्ग्रहणादिकर्मअया, दर्शनेन वा-वर्णादिपरिणतद्रव्यानुसारेण, वा चशब्दार्थः, तदप्येवम्भूतं कियती
वेलाऽस्य धौतस्येति पृष्ट्वा गृहस्थं, श्रुत्वा वा महती वेलेति श्रुत्वा च प्रतिवचनं, यद्वेति, यदेवं निःशङ्कितं
भवति, निश्चयत्र प्रज्ञापनया तन्दुलोदकं तत् प्रतिगृह्णीयादिति । विशेषः पिण्डनिर्युक्तावुक्त इति ॥ १३५ ॥
उष्णोदकादिविधिमाह-'अजीर'त्ति सूत्र, उष्णोदकं अजीवं परिणतं ज्ञात्वा त्रिदण्डपरिवर्तनादिरूपं मत्या दर्शनेन वेत्यादि
वचनं, तदेवम्भूतं प्रतिगृह्णीयात् संयतः, चतुर्थरसमपूत्यादि देहोपकारकं मत्यादिना ज्ञात्वेत्यर्थः। अथ शङ्कितं भवेत्
पूत्यादिमाश्रित तत आस्वाद्य रोचयेद्विनिश्चयं कुर्यादिति ॥ १३६ ॥ तत्रैव-'थोव'त्ति-स्तोकमास्वादनार्थं प्रथम
तावद्धस्ते देहि मे, यदि साधुप्रायोग्यं ततो ग्रहीष्ये, मा मेऽत्यम्लं पूति नालं तृडपनोदाय, ततः किमनेनानुपयोगिना ?
इति सूत्रार्थः ॥ १३७ ॥ आस्वादितं च सत्साधुप्रायोग्यं चेत् गृह्णत एव, नो चेदग्राह्यं, अत आह-तं चेति गतार्थं चेति
॥ १३८ ॥ 'तं च होज्ज'त्ति, तथात्यम्लादि भवेदकामेन उपरोधशीलतया विमनस्केन-अन्यचित्तेन प्रतीच्छितं-
गृहीतं तदात्मना पापापकारकमनाभोगधर्मश्रद्धया न पिबेन्नाप्यन्येभ्यो दापयेत्, रत्नाधिकेनापि स्वयं दानस्य
प्रतिषेधज्ञापनार्थं दापनग्रहणं । इह च "सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव"त्यादि भावनेति ॥१३९॥ अस्यैव विधिमाह-
'एगन्त'त्ति-एकान्तं अवक्रम्य-गत्वा अचित्तं दग्धदेशादि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणेन स्थण्डिलमिति
गम्यते यत-प्रयतेन प्रतिष्ठापयेत्, विधिना त्रिः श्रावणपूर्वं व्युत्सृजेत्, प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेत्
ईर्यापथिकां । एतच्च बहिरागमननियमकरणमिदं प्रतिक्रमणं बहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणनियमज्ञापनार्थमिति ॥ १४० ॥

सिआ य गोयरग्गगओ, इच्छिज्जा परिभुत्तुअं(भुञ्जिउं)। कुट्ठगं भित्ति मूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुअं ॥
अणुन्नवित्तु मेहावी, परिच्छन्नंमि संवुडे। हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ १४२ ॥
तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठिअं कंटओ सिआ। तणकट्ठसक्करं वावि, अन्नं वावि तहाविहं ॥ १४३ ॥
तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डुए। हत्थेण तं गहेऊण, एगंतमवक्कमे ॥ १४४ ॥
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ। जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ १४५ ॥

एवमन्नपानग्रहणविधिमभिधाय भोजनविधिमाह–'सिआ य'त्ति–स्यात्–कदाचित् गोचराग्रगतो–ग्रामान्तरं भिक्षां प्रविष्ट इच्छेत्, परिभोक्तुं पानादिपिपासाद्यभिभूतः सन्, तत्र साधुवसत्यभावे कोष्ठकं–शून्यं चट्टमठादि भित्तिमूलं वा–कुड्यैकदेशादि प्रत्युपेक्ष्य–चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणेन प्रासुकं–बीजादिरहितं चेति ॥ १४१ ॥ तत्र 'अणुन्नवित्तु'त्ति–अनुज्ञाप्य सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं मेधावी–साधुः प्रतिच्छन्ने तत्र कोष्ठकादौ संवृत्तः–उपयुक्तः सन् साधुरीर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा तदनु हस्तकं–मुखवस्त्रिकारूपमादायेति वाक्यशेषः। संप्रमृज्य विधिना तेन कायं तत्र भुञ्जीत संयतो रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः ॥१४२॥ 'तत्थ'त्ति–तत्र कोष्ठकादौ से–तस्य साधोः भुञ्जानस्यास्थि कण्टको वा स्यात्, कथञ्चित् गृहीणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये। तृणं काष्ठं शर्करं चापि स्यात्, उचितभोजने अन्यद्वापि तथाविधं बदरकर्कटादीति ॥ १४३ ॥ 'तं उक्खिवित्तु' इति, तदस्थीत्युत्क्षिप्य हस्तेन यत्र

वा, मत्या-तद्ग्रहणादिकर्मजया, दर्शनेन वा-वर्णादिपरिणामयत्रानुसारेण, वा चशब्दार्थः, तदप्येवम्भूतं कियती वेलाऽस्य धौतस्येति पृष्ट्वा गृहस्थं, श्रुत्वा वा महती वेलेति श्रुत्वा च प्रतिवचनं, यथेति, यदेवं निःशङ्कितं भवति, निरवद्य प्रशान्ततया तन्दुलोदक तत् प्रतिगृह्णीयादिति। विशेषः पिण्डनिर्युक्तावुक्त इति ॥ १३५ ॥ उष्णोदकादिविधिमाह-'अजीव'त्ति सूत्र, उष्णोदकं अजीवं परिणतं ज्ञात्वा त्रिदण्डपरिवर्त्तनादिरूपं मत्वा दर्शनेन वेत्यादि यतते, तदेवम्भूत प्रतिगृह्णीयात् संयतः, चतुर्थरसमपूरणादि देहोपकारकं मत्यादिना ज्ञात्वेत्यर्थः। अथ शङ्कितं भवेत् तत्वादिनाऽन तत आस्वाद्य रोचयेद्विनिश्चयं कुर्यादिति ॥ १३६ ॥ तच्चैवं-'थोवं'त्ति-स्तोकमास्वादनार्थं प्रथमं तावद्धस्ते देहि मे, यदि साधुप्रायोग्यं ततो ग्रहीष्ये, मा मेऽत्यम्लं पूति नालं तृडपनोदाय, ततः किमनेनानुपयोगिना ? इति सूत्रार्थः ॥ १३७ ॥ आस्वादितं च तत्साधुप्रायोग्य चेत् गृह्यत एव, नो चेदग्राह्यं, अत आह-तं चेति गतार्थं चेति ॥ १३८ ॥ 'तं च होज्ज'त्ति, तथात्यम्लादि मनेदकामेन उपरोधशीलतया विमनस्केन-अन्यचित्तेन प्रतीच्छितं-गृहीतं तदात्मना कायापकारकमनाभोगधर्मश्रद्धया न पिबेन्नाप्यन्येभ्यो दापयेत्, रत्नाधिकेनापि स्वयं दानस्य प्रतिषेधज्ञापनार्थं दापनग्रहणं। इह च "सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव"त्यादि भावनेति ॥१३९॥ अस्यैव विधिमाह-'एगन्त'त्ति-एकान्तं अवक्रम्य-गत्वा अचित्तं दग्धदेशादि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणेन स्थण्डिलमिति गम्यते यतं-अत्वरितं प्रतिष्ठापयेत्, विधिना त्रिः श्रावणपूर्वं व्युत्सृजेत्, प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेत् ईर्यापथिकां। एतच्च बहिरागतनियमकरणसिद्धं प्रतिक्रमणं अबहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणनियमज्ञापनार्थमिति ॥ १४० ॥

सिआ य गोयरग्गगओ,इच्छिज्जा परिभुत्तुअं(भुञ्जिउं)। कुट्ठगं भित्ति मूलं वा,पडिलेहित्ताण फासुअं ॥
अणुन्नवित्तु मेहावी, परिच्छन्नंमि संवुडे। हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ १४२ ॥
तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठिअं कंटओ सिआ। तणकट्ठसक्करं वावि, अन्नं वावि तहाविहं ॥ १४३ ॥
तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डुए। हत्थेण तं गहेऊण, एगंतमवक्कमे ॥ १४४ ॥
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ। जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ १४५ ॥

एवमन्नपानग्रहणविधिमभिधाय भोजनविधिमाह–'सिआ य'त्ति–स्यात्–कदाचित् गोचराग्रगतो–ग्रामान्तरं भिक्षां प्रविष्ट इच्छेत्, परिभोक्तुं पानादिपिपासाद्यभिभूतः सन्, तत्र साधुवसत्यभावे कोष्ठकं–शून्यं चट्टमठादि भित्तिमूलं वा–कुड्यैकदेशादि प्रत्युपेक्ष्य–चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणेन प्रासुकं–बीजादिरहितं चेति ॥ १४१ ॥ तत्र 'अणुन्नवित्तु'त्ति–अनुज्ञाप्य सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं मेधावी–साधुः प्रतिच्छन्ने तत्र कोष्ठकादौ संवृत्तः–उपयुक्तः सन् साधुरीर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा तदनु हस्तकं–मुखवस्त्रिकारूपमादायेति वाक्यशेषः। संप्रमृज्य विधिना तेन कायं तत्र भुञ्जीत संयतो रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः ॥१४२॥ 'तत्थ'त्ति–तत्र कोष्ठकादौ से–तस्य साधोः भुञ्जानस्यास्थि कण्टको वा स्यात्, कथञ्चित् गृहीणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये। तृणं काष्ठं शर्करं चापि स्यात्, उचितभोजने अन्यद्वापि तथाविधं बदरकर्कटादीति ॥ १४३ ॥ 'तं उक्खिवित्तु' इति, तदस्थीत्युत्क्षिप्य हस्तेन यत्र

कचिन्न निक्षिपेत्, तथा आस्येन-मुखेन नोज्झेत्, मा भूद्विराधनेति, अपि तु हस्तेन गृहीत्वा तदस्थ्यादि एकान्तमवक्रामेदिति ॥ १४४ ॥ 'एगंते'ति-एकान्तमवक्रम्याचित्तं प्रत्युपेक्ष्य यतं प्रतिष्ठापयेत्, प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रामयेदिति मात्रार्थः सूत्रद्वयेनेति ॥ १४५ ॥

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुअं। सपिंडपायमागम्म, उंडुयं पडिलेहिआ ॥१४६॥
विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी। इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥१४७॥
आभोइत्ताण नीसेसं, अईआरं जहक्कमं। गमणागमणे चेव, भत्तपाणे व संजए ॥१४८॥
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेअसा। आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहिअं भवे ॥१४९॥
न सम्ममालोइयं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं। पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥१५०॥
अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ। मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥१५१॥
नमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं। सज्झायं पट्ठवित्ता णं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥१५२॥
वीसमंतो इमं चित्ते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ। जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥१५३॥

साहवो तो चिअत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं। जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥१५४॥

अह कोई न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एग(क्क)ओ। आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥१५५॥

वसतिमधिकृत्य भोजनविधिमाह–'सिआ य'त्ति, स्यात्कदाचित् तद् द्रव्यं कारणाभावे सति भिक्षुरिच्छेदिति शय्यां–वसतिमागम्य परिभोक्तुं, तत्रायं विधिः–सह पिण्डपातेन–विशुद्धसमुदानेनागम्य, वसतिमिति गम्यते, तत्र बहिरेवोन्दुकं–स्थानं प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं विशोधयेदिति सूत्रार्थः ॥ १४६ ॥ तत ऊर्ध्वं 'विणएणं'त्ति विशोध्य पिण्डं बहिः 'विनयेन' नैषेधिकी नमः क्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन प्रविश्य, वसतिमिति गम्यते, सकाशे गुरोः–मुनिर्गुरुसमीप इत्यर्थः। ईर्यापथिकीमादाय 'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए' इत्यादि सूत्रं पठित्वा, आगतश्च गुरुसमीपं प्रतिक्रामेत्–कायोत्सर्गं कुर्यादिति ॥ १४७ ॥ 'आभोइत्ताण'त्ति–तत्र कायोत्सर्गे आभोगयित्वा–ज्ञात्वा निःशेषमतिचारं यथाक्रमं परिपाट्या, क्वेत्याह–गमनागमनयोश्चैव–गमने–गच्छत आगमने–आगच्छतो योऽतिचारः, तथा भक्तपानयोश्च–भक्ते पाने च योऽतिचारस्तं संयतः–साधुः कायोत्सर्गस्थो हृदये स्थापयेदिति ॥ १४८ ॥ विधिनोत्सारिते चैतस्मिन् 'उज्जुप्पन्नो'त्ति–ऋजुप्रज्ञः–अकुटिलमतिः सर्वत्र, अनुद्विग्नः–क्षुधादिजयात् प्रशान्तः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा, अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थः, आलोचयेत् गुरुसकाशे–गुरोर्निवेदयेदितिभावः। यदशनादि यथा–येन प्रकारेण हस्तप्रदा(धात्र)नादिना गृहीतं भवेदिति सूत्रार्थः ॥ १४९ ॥ तदनु च न

कचित्र निक्षिपेत्, तथा आस्येन–मुखेन नोज्झेत्, मा भूद्विराधनेति, अपि तु हस्तेन गृहीत्वा तदस्थ्यादि एकान्तमवक्रामे-दिति ॥ १४४ ॥ 'एगंते'ति–एकान्तमवक्रम्याचित्तं प्रत्युपेक्ष्य यतं प्रतिष्ठापयेत्, प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रामयेदिति भावार्थः पूर्ववदेवेति ॥ १४५ ॥

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुअं । सपिंडपायमागम्म, उंडुयं पडिलेहिआ ॥१४६॥
विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी । इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥१४७॥
आभोइत्ताण नीसेसं, अईआरं जहक्कमं । गमणागमणे चेव, भत्तपाणे व संजए ॥१४८॥
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेअसा । आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहिअं भवे ॥१४९॥
न सम्ममालोइयं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं । पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥१५०॥
अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ । मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥१५१॥
नमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं । सज्झायं पट्ठवित्ता णं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥१५२॥
वीसमंतो इमं चित्ते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ । जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥१५३॥

साहवो तो चिअत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं । जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥१५४॥
अह कोई न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एग(क्क)ओ । आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥१५५॥

वसतिमधिकृत्य भोजनविधिमाह—'सिआ य'त्ति, स्यात्कदाचित् तद् द्रव्यं कारणाभावे सति भिक्षुरिच्छेदिति शय्यां-वसतिमागम्य परिभोक्तुं, तत्रायं विधिः-सह पिण्डपातेन-विशुद्धसमुदानेनागम्य, वसतिमिति गम्यते, तत्र बहिरेवोन्दुकं-स्थानं प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं विशोधयेदिति सूत्रार्थः ॥ १४६ ॥ तत ऊर्ध्वं 'विणएणं'त्ति विशोध्य पिण्डं बहिः 'विनयेन' नैषेधिकी नमः क्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन प्रविश्य, वसतिमिति गम्यते, सकाशे गुरोः-मुनिर्गुरुसमीप इत्यर्थः । ईर्यापथिकीमादाय 'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए' इत्यादि सूत्रं पठित्वा, आगतश्च गुरुसमीपं प्रतिक्रामेत्-कायोत्सर्गं कुर्यादिति ॥ १४७ ॥ 'आभोइत्ताण'त्ति-तत्र कायोत्सर्गे आभोगयित्वा-ज्ञात्वा निःशेषमतिचारं यथाक्रमं परिपाट्या, क्वेत्याह-गमनागमनयोश्चैव-गमने-गच्छत आगमने-आगच्छतो योऽतिचारः, तथा भक्तपानयोश्च-भक्ते पाने च योऽतिचारस्तं संयतः-साधुः कायोत्सर्गस्थो हृदये स्थापयेदिति ॥ १४८ ॥ विधिनोत्सारिते चैतस्मिन् 'उज्जुप्पन्नो'त्ति-ऋजुप्रज्ञः-अकुटिलमतिः सर्वत्र, अनुद्विग्नः-क्षुधादिजयात् प्रशान्तः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा, अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थः, आलोचयेत् गुरुसकाशे-गुरोर्निवेदयेदितिभावः । यदशनादि यथा-येन प्रकारेण हस्तप्रदा(धाव)नादिना गृहीतं भवेदिति सूत्रार्थः ॥ १४९ ॥ तदनु च न

कचिन्न निक्षिपेत्, तथा आस्येन-मुखेन नोज्झेत्, मा भूद्विराधनेति, अपि तु हस्तेन गृहीत्वा तदस्थ्यादि एकान्तमवक्रामे-दिति ॥ १४४ ॥ 'एगंते'त्ति-एकान्तमवक्रम्याचित्तं प्रत्युपेक्ष्य यतं प्रतिष्ठापयेत्, प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रामयेदिति गाथार्थः पूर्ववदेवेति ॥ १४५ ॥

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुअं। सपिंडपायमागम्म, उंडुयं पडिलेहिआ ॥१४६॥
विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी। इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥१४७॥
आभोइत्ताण नीसेसं, अईआरं जहक्कमं। गमणागमणे चेव, भत्तपाणे व संजए ॥१४८॥
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेअसा। आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहिअं भवे ॥१४९॥
न सम्ममालोइयं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं। पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥१५०॥
अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ। मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥१५१॥
नमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं। सज्झायं पट्ठवित्ता णं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥१५२॥
वीसमंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ। जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥१५३॥

त् साधुस्ततो भुञ्जीत एकको–रागादिरहित इति। कथं भुञ्जीतेत्यत्राह–आलोके भाजने मक्षिका-प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थः। साधुः–प्रव्रजितः यतं–प्रयत्नेन तत्रोपयुक्तं, अपरिशाटं–हस्तमुखाभ्यां ते ॥ १५५ ॥

...व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा। एअलद्धमन्नत्थ पउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥
अरसं विरसं वावि, सूइअं वा असूइअं। उल्लं वा जइवा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोअणं ॥ १५७ ॥
उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहुफासुअं। मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जिअं ॥१५८॥
दुल्लहाउ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा। मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइं॥१५९॥त्तिबेमि॥

पिंडेसणाए पढमो उद्देसो समत्तो ५–१ ॥

भोज्यमधिकृत्य विशेषमाह–'तित्तगं व'त्ति–तिक्तकं वा एलुकवालुङ्कादि, कटुकं वाऽऽर्द्रकतीमनादि, कषायं वल्लादि, आम्लं तक्रारनालादि, मधुरं क्षीरमध्वादिकं, लवणं वा प्रकृतिक्षारं तथाविधशाकादिलवणोत्कटं वान्यत्, एतत् तिक्तकादि लब्धं–आगमोक्तेन विधिना प्राप्तं अन्यार्थं "अक्षोपाङ्गन्यायेन" परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं तत् माधकमिति कृत्वा मधुघृत मिव भुञ्जीत संयतः, न वर्णाद्यर्थं। अथवा मधुघृतमिव "नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्ज"त्ति ॥ १५६ ॥ किञ्च–'अरसं'ति अरसं–अप्राप्तरसं हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमित्यर्थः, विरसं वा–विगतरसमतिपुराणौदनादि, सूचितं–

'मम 'त्ति-न सम्यगालोचितं भवेत् सूक्ष्मं अज्ञानात् अनाभोगेनाननुस्मरणाद्वा, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतं, पुरःकर्म पश्चात्कर्म चेत्यर्थः। पुनरालोचनोत्तरकालं प्रतिक्रामेत्, तस्य-सूक्ष्मातिचारस्य 'इच्छामि पडिक्कमिउं गोयरचरियाए' इत्यादि सूत्र पठित्वा व्युत्सृष्टः-कायोत्सर्गस्थः, चिन्तयेदिदं-वक्ष्यमाणलक्षणमिति ॥ १५० ॥ ' अहो जिणेहिं ' 'अहो' विस्मये, जिनैः-तीर्थकरैः, असावद्या-अपापा, वृत्तिः-वर्तना, साधूनां दर्शिता देशिता वा मोक्षसाधनहेतोः-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसाधनस्य साधुदेहस्य धारणाय-संधारणार्थमिति ॥ १५१ ॥ ततश्च 'नमोक्कारे-ण'त्ति-नमस्कारेण पारयित्वा 'नमो अरिहंताणं'मित्यनेन, कृत्वा जिनसंस्तवं " लोगस्सुज्जोयगरे " इत्यादिरूपं, अ(त)वो यदि न पूर्वं प्रस्थापितस्ततः स्वाध्यायं प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्ये आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपकादिः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत क्षणं-स्तोककालं मुनिरिति ॥१५२॥ 'वीससमंतो'त्ति-विश्राम्यन्निदं चिन्तयेत् परिचितेन चेतसा, हितं-कल्याणप्रापकमर्थं-वक्ष्यमाणलक्षणं, किंविशिष्टः सन् ? भावलाभेन-निर्जरादिनाऽर्थोऽस्येति लाभार्थिकः, यदि मे-ममानुग्रहं कुर्युः साधवः प्रासुकपिण्डग्रहणेन ततः स्यामहं तारितो भवसमुद्रादिति ॥ १५३ ॥ एवं प्रविचिन्त्योचितवेलायां आचार्यमामन्त्रयेत्, यदि गृह्णाति शोभनं, नो चेद्वक्तव्योऽसौ भगवन् ! देहि केभ्योऽप्यतो यद्यातव्यं, ततो यदि ददाति सुन्दरं, अथ भणति-'त्वमेव प्रयच्छ' अत्रान्तरे 'साहवो'त्ति-साधूंस्ततो गुर्वनुज्ञातः सन् 'चिअत्तेणं'ति मनःप्रणिधानेन निमन्त्रयेत् यथाक्रमं यथारत्नाधिकतया, "ग्रहणोचित्यापेक्षया बालादिक्रमेणे"त्यन्ये। यदि तत्र केचन धर्मबान्धवा इच्छेयुः-अभ्युपगच्छेयुः, ततस्तैः सार्धं भुञ्जीतोचितसंविभागदानेनेति ॥ १५४ ॥ 'अह कोई'त्ति अथ

कश्चिन्नेच्छेत् साधुस्ततो भुञ्जीत एकको–रागादिरहित इति। कथं भुञ्जीतेत्यत्राह–आलोके भाजने मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थः। साधुः–प्रव्रजितः यतं–प्रयत्नेन तत्रोपयुक्तं, अपरिशाटं–हस्तमुखाभ्यामनुज्झन्निति ॥ १५५ ॥

तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा। एअलद्धमन्नत्थ पउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥
अरसं विरसं वावि, सूइअं वा असूइअं। उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोअणं ॥ १५७ ॥
उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहुफासुअं। मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जिअं ॥१५८॥
दुल्लहाउ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा। मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइं॥१५९॥तिबेमि॥

पिंडेसणाए पढमो उद्देसो समत्तो ५–१ ॥

भोज्यमधिकृत्य विशेषमाह–'तित्तगं व'त्ति–तिक्तकं वा एलुकवालुङ्कादि, कटुकं वाऽऽर्द्रकतीमनादि, कषायं वल्लादि, आम्लं तक्रारनालादि, मधुरं क्षीरमध्वादिकं, लवणं वा प्रकृतिक्षारं तथाविधशाकादिलवणोत्कटं वान्यत्, एतत् तिक्तकादि लब्धं–आगमोक्तेन विधिना प्राप्तं अन्यार्थं "अक्षोपाङ्गन्यायेन" परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं तत् नाबकमिति कृत्वा मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः, न वर्णाद्यर्थं। अथवा मधुघृतमिव "नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्ज"त्ति ॥ १५६ ॥
किञ्च–'अरसं'ति अरसं–अप्राप्तरसं हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमित्यर्थः, विरसं वा–विगतरसमतिपुराणौदनादि, सूचितं–

'मम 'त्ति-न सम्यगालोचित भवेत् सूक्ष्म अज्ञानात् अनाभोगेनाननुस्मरणाद्वा, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतं, पुरःकर्म पश्चात्कर्म चेत्यर्थः। पुनरालोचनोत्तरकाल प्रतिक्रामेत्, तस्य-सूक्ष्मातिचारस्य 'इच्छामि पडिक्कमिउं गोयरचरियाए' इत्यादि सूत्र पठित्वा व्युत्सृष्टः-कायोत्सर्गस्थः, चिन्तयेदिदं-वक्ष्यमाणलक्षणमिति ॥ १५० ॥ 'अहो जिणेहिं' 'अहो' विस्मये, जिनैः-तीर्थकरैः, असावद्या-अपापा, वृत्तिः-वर्तना, साधूनां दर्शिता देशिता वा मोक्षसाधनहेतोः-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसाधनस्य साधुदेहस्य धारणाय-संधारणार्थमिति ॥ १५१ ॥ ततश्च 'नमोक्कारेण'त्ति-नमस्कारेण पारयित्वा 'नमो अरिहंताण'मित्यनेन, कृत्वा जिनसंस्तवं "लोगस्सुज्जोगरे" इत्यादिरूपं, अ(त)तो यदि न पूर्वं प्रस्थापितस्ततः स्वाध्यायं प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्ये आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपकादिः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् क्षणं-स्तोककालं मुनिरिति ॥१५२॥ 'वीससमंतो'त्ति-विश्राम्यन्निदं चिन्तयेत् परिणतेन चेतसा, हितं-कल्याणप्रापकमर्थं-वक्ष्यमाणलक्षणं, किंविशिष्टः सन्? भावलाभेन-निर्जरादिनाऽर्थोऽस्येति, लाभार्थिकः, यदि मे-ममानुग्रहं कुर्युः साधवः प्रासुकपिण्डग्रहणेन ततः स्यामहं तारितो भवसमुद्रादिति ॥ १५३ ॥ एवं सञ्चिन्त्योचितवेलायां आचार्यमामन्त्रयेत्, यदि गृह्णाति शोभनं, नो चेद्वक्तव्योऽसौ भगवन्! देहि केभ्योऽप्यदो यद्दातव्यं, ततो यदि ददाति सुन्दरं, अथ भणति-'त्वमेव प्रयच्छ' अत्रान्तरे 'साहवो'त्ति-साधूस्ततो गुर्वनुज्ञातः सन् 'त्तिअत्तेणं'त्ति मन प्रणिधानेन निमन्त्रयेत् यथाक्रमं यथारत्नाधिकतया, "ग्रहणोचितयापेक्षया बालादिक्रमेणे"त्यन्ये। यदि तत्र केचन धर्मबान्धवा इच्छेयुः-अभ्युपगच्छेयुः, ततस्तैः सार्धं भुञ्जीतोचितसंविभागदानेनेति ॥ १५४ ॥ 'अह कोई'त्ति अथ

कश्चिन्नेच्छेत् साधुस्ततो भुञ्जीत एकको-रागादिरहित इति। कथं भुञ्जीतेत्याह-आलोके भाजने मक्षिका-द्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थः। साधुः-प्रव्रजितः यतं-प्रयत्नेन तत्रोपयुक्तं, अपरिशाटं-हस्तमुखाभ्यां अनुज्झन्निति ॥ १५५ ॥

तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा। एअलद्धमन्नत्थ पउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥

अरसं विरसं वावि, सूइअं वा असूइअं। उल्लं वा जइवा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोअणं ॥ १५७ ॥

उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहुफासुअं। मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जिअं ॥१५८॥

दुल्लहाउ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा। मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइं॥१५९॥तिबेमि॥

पिंडेसणाए पढमो उद्देसो समत्तो ५-१ ॥

भोज्यमधिकृत्य विशेषमाह-'तित्तगं व'त्ति-तिक्तकं वा एलुकवालुङ्कादि, कटुकं वाऽऽर्द्रकतीमनादि, कषायं वल्लादि, आम्लं तक्रारनालादि, मधुरं क्षीरमध्वादिकं, लवणं वा प्रकृतिक्षारं तथाविधशाकादिलवणोत्कटं वाऽन्यत्, एतत् तिक्तकादि लब्धं-आगमोक्तेन विधिना प्राप्तं अन्यार्थं "अक्षोपाङ्गन्यायेन" परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं सत् नावकर्गिति कृत्वा मधुघृत मिव भुञ्जीत संयतः, न वर्णाद्यर्थं। अथवा मधुघृतमिव "नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्ज"त्ति ॥ १५६ ॥ किञ्च-'अरसं'ति अरसं-असम्प्राप्तरसं हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमित्यर्थः, विरसं वा-विगतरसमतिपुराणौदनादि, सूइतं-

व्यञ्जनादियुक्तं असूचितं वा-तद्रहितं वा, " कथयित्वा अकथयित्वा वा दत्त "मित्यन्ये । आर्द्रं-प्रचुरव्यञ्जनं, यदि वा शुष्कं-स्तोकव्यञ्जनं वा, किं तदित्याह-मन्थुकुल्माषभोजनं मन्थु-बदरचूर्णादि, कुल्माषाः-सिद्धमाषाः, "यवमाषा" इति केचिदिति ॥ १५७ ॥ तद्भोजनं किमित्याह-' उप्पन्नं 'ति सूत्रं, उत्पन्नं-विधिना प्राप्तं, नातिहीलयेत्-सर्वथा न निन्देत्, अल्पमात्रमेतत् न देहपूरकमिति किमनेन ? बहु वा असारप्रायमिति । नाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, किंविशिष्टं तदित्याह-प्रासुकं-प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थः । अन्ये तु व्याचक्षते-" अल्पं वा, नाशब्दाद्विरसादि वा, बहु प्रासुकं-सर्वथा शुद्धं नातिहीलये "दिति, अपि त्वेवं भावयेत्-यदेवेह लोका ममानुपकारिणः प्रयच्छन्ति तदेव शोभनमिति, एवं मुधा लब्धं-कोण्टलादिव्यतिरेकेण प्राप्तं, मुधाजीवी-सर्वथा अनिदानजीवी, " आत्मसाधनाजीवक "इत्यन्ये, भुञ्जीत दोषवर्जितं-संयोजनादिरहितमिति ॥ १५८ ॥ एतद्दुर्लभमपि दर्शयति-' दुल्लह 'त्ति-दुर्लभा एव मुधादातारः, तथाविध भागवतवत्, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः तथाविधचेल्लकवत्, अनयोः फलमाह-मुधादातारो मुधाजीविनश्च द्वावप्येतौ गच्छतः सुगति-सिद्धिगतिं कदाचिदनन्तरमेव, कदाचित् देवलोकसुमानुषत्वप्रत्यागमपरम्परया, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

अत्र भागवतोदाहरणम् (दृ० ३)-कश्चित् परिव्राजकः कञ्चनापि भक्तिमन्तं भागवतमभ्यर्थयत्-यदि मदीयोदन्तमुद्वहसि सोऽहं तव गृहे वर्षारात्रमधिवसामि, तेनोक्तं-यदि मदीयां तप्तिं न करोषि, तेनोक्तं-एवं करिष्ये, ततः प्रदत्तस्तेन तस्मै यथायथं, शयनं चकार भोजनादिभिरस्य पर्यापितवान्, अतिक्रान्ते च कियत्यपि काले एकदा ग्रामिकधीवरैस्तत्र मत्स्यस्य अपायोऽयं अभाषि त्वद्गृहासमागतानां ... बहुमा मे

तेऽन्यत्रोपययुः, अत्रान्तरे प्रातरेव स्नातुं परिव्राजकस्तडागमुपजगाम, दृष्टश्च तेन सरःसमीपवर्त्तिन्यां जाल्यामसौ तुरंगमः, प्रत्यभिज्ञातश्चापि सोऽयमश्वः, योऽस्माकमुपकारिणो भागवतस्य तस्करैरपहृतः, ततस्तेन गत्वा स्वमात्रासं अग्रे गृहपति-पुरुषाणामुक्तं-यथा मम स्नातुमितः सरसि गतस्य जाल्यां धौतवासो विस्मृतं, ततस्तैः पुमान् प्रहितः, तेन च तत्र गतेन दृष्टोऽसौ वाजी समानीतश्च, कथितो गृहपतये, ततस्तेन समचिन्ति-अपि व्याजेन व्रतिना ममोपकारः कृतस्तत्कथमहं निर्व्याजदानफलं विहाय प्रत्युपकारेण दानप्रवृत्तिं विदधामीति संप्रधार्य गदितोऽसौ परिव्राजकः-भद्र ! व्रज त्वमिदानीं, न कृतोपकारिणे भवते तर्प्तिं विधास्यामि, यस्मादुपकारिणि विहितं दानं निष्फलं उपजायत इति, एष मुधादायीति।

मुधाजीविन्युदाहरणमुच्यते(ह० ४)-कश्चिन्नरपतिरनित्यतां विलोक्य प्रियाणामपि पुत्रकलत्रमित्रपौत्रादीनां समुपजात-वैराग्यो धर्माधर्मपरीक्षां चक्रे, को वा अनिसृष्टं भुंक्ते ? ततस्तं परीक्षयामीति संप्रधार्य पुरुषानामुधिकयादिदेश यथा राजा मोदकान् प्रयच्छति, समागत्य परिगृह्यतामिति। समाकर्ण्योद्घोषणामुपजग्मुः कार्पटिकप्रभृतयोऽर्थिनो जनाः, पृष्टाश्च ते भूभुजा-केन भवन्तो जीवन्ति ?, तत्रैकेनोक्तं-अहं तावत् मुखेन। अपरेण गदितं-अहं पादाभ्यां, अपरेणोक्तं-अहं हस्ताभ्यां, अन्येन निवेदितं-अहं लोकानुग्रहणेन, क्षुल्लकसाधुनोक्तं-अहं मुधिकयेति, ततस्तां नरपतिः पुनरपि जगाद-कथमेवेति। ततः प्रथमो जगाद-अहं तावत्कथको जनानां विस्तार्य रामायणादिकथां कथयामि तेन मुखेन जीवामीति। द्वितीयः प्राह-अहं हि लेखवाहको घटिकामध्ये योजनं लंघयामि, तेन पादाभ्यां जीवामि। तृतीयः प्राह-अहं हि लेखकः, अतो हस्ताभ्यां जीवामि। भिक्षुकेणोक्तम्-अहं प्रव्रजितः अतो लोकानामनुग्रहेण निर्वहणं। पुनः क्षुल्लकसाधुनोक्तं, प्रव्रजितोऽहं जन्मजरा-

मरणरागगजाङ्कच्यास्पुपद्रवनोपद्रुत दारिद्र्यशोमाग्यकलङ्कयातकलुषितमिष्टवियोगानिष्टसंयोगदुःखजनितकशतरकार्यं क्षुधापिपासाशीतात्पञ्चमदसंसहुल दैन्यचिन्ताज्वराग्निभिः क्षणमप्यमुक्तसमीपं संसार विलोक्य, ततो निर्विण्णः प्रतिपद्याशु शारीरमानसानेकदुःखमलविविलयनहेतुं मोक्षायतोनन्योदार्योपकारकारणपदिष्टं ज्ञानविज्ञानजनकं निर्जितमस्तराजन्यचक्रराजमहारकस्वर्गापवर्गादिसुखानिश्रयसहेतु मोक्षफलदायकं जैनधर्मं, ततो मुधिकृत्या यथोपलब्धेनाहारजातेन जीवामीति। निश्चय्य शुद्धापितमहा एव धर्मः सर्वदुःखमोक्षसाधक इति निश्चित्य, विशेषेणाचार्यसमीपे धर्ममाकर्ण्य प्रतिबुद्धो राज्ये सुतं संस्थाप्य प्रव्रज्यामगो नरपतिरप्रदीत्। एव मुधाजीवीति ॥ १५९ ॥

॥ इति पिण्डैषणाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः ५-१ ॥

पडिग्गहं संलिहित्ता णं, लेवमायाए संजए । दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥ १६० ॥

पिण्डैषणायाः प्रथमोद्देशक एव प्रक्रान्तोपयोगि यन्नोक्तं तद् द्वितीये समुपदर्शयन्नाह–'पडिग्गहं'ति–प्रतिग्रहं–भाजनं, संलिह्य–प्रदेशिन्या निरवयवं कृत्वा, कथमित्याह––लेपमर्यादया–अलेपं संलिह्य, संयतः–साधुः, दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा भोजनजातं, गन्धग्रहणं रसाद्युपलक्षणं, सर्वं–निरवशेषं भुञ्जीत–अश्नीयात्, नोज्झेत्–नोत्सृजेत् किञ्चिदपि, मा भूत्संयमविराधनेति। अस्यैवार्थस्य गरीयस्त्वख्यापनाय सूत्रार्थयोः व्यत्ययोपन्यासः। प्रतिग्रहशब्दो मात्रलिङ्क इत्युक्तो गृहस्थानार्थं वा, कस्यैवं स्यात्–दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा सर्वं भुञ्जीत नोज्झेत्। प्रतिग्रहं संलिह्य लेपमर्यादया संयतः।

विचित्रा च सूत्रगतिरिति ॥ १६० ॥

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो य गोअरे। अयावयट्ठा भुच्चा णं, जइ तेणं न संथरे ॥ १६१ ॥

तओ कारणमुप्पण्णे, भत्तपाणं गवेसए। विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेणं उत्तरेण य ॥ १६२ ॥

विधिविशेषमाह–'सेज्ज'त्ति शय्यायां–वसतौ नैषेधिक्यां–स्वाध्यायभूमौ शय्यैव वा असमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी तस्यां, समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादिः, छात्र(छत्र)मठादौ च, अयावदर्थं भुक्त्वा न यावदर्थं अपरिसमाप्तमित्यर्थः। णमिति वाक्यालङ्कारे। यदि तेन–भुक्तेन, न संस्तरेत् न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वा भवति ॥ १६१ ॥ 'तओ'त्ति ततः कारणे–वेदनादौ उत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्तपानं गवेषयेत्–अन्वेषयेत् अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति। विधिना पूर्वोक्तेन "संप्राप्ते भिक्षाकाले" इत्यादिना, अनेन च वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण चेति ॥ १६२ ॥

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे। अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥१६३॥

अकाले चरसी भिक्खू, कालं न पडिलेहसि। अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि ॥१६४॥

सइकाले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं। अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवुत्ति अहिआसए ॥ १६५ ॥

मरणरोगशोकव्याध्युपद्रवजनोपद्रव दारिद्र्यदौर्भाग्यकलहमातकलुषितमिष्टवियोगानिष्टसंयोगदुःखजनितकष्टवरकार्यं क्षुधापि-
पासाशीतोष्णक्लेशमहस्रसङ्कुल दैन्यचिन्ताज्वरादिभिः क्षणमप्यमुक्तसमीपं संसारं विलोक्य, ततो निर्विण्णः प्रतिपद्याहं शारीर-
मानसानेकदुःखजनकशिथिलयत्नोऽतं मोक्षाय मोक्षपोरार्योपकारकरणपटिष्ठं ज्ञानविज्ञानजनकं निर्जितसमस्तराजन्यचक्रराज-
प्रसादक स्वर्गापवर्गादिसुखानिश्रेयसदोऽहं मोक्षफलदायकं जैनधर्मं, ततो बुधिकृपा यथोपलब्धेनाहारजातेन जीवामीति।
निश्चय महाविरमहो एव धर्मः सर्वदुःखमोक्षसाधक इति निश्चित्य, विशेषेणाचार्यसमीपे धर्ममाकर्ण्य प्रतिबुद्धो राज्ये सुतं
संस्थाप्य प्रव्रज्यामसौ नापतिरग्रहीत्। एष मुधाजीवीति ॥ १५९ ॥

॥ इति पिण्डैषणाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः ५-१ ॥

पडिग्गहं संलिहित्ता णं, लेवमायाए संजए। दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डुए ॥ १६० ॥

पिण्डैषणायाः प्रथमोद्देशक एव प्रकान्तोपयोगि यन्नोक्तं तद् द्वितीये प्रदर्शयन्नाह—'पडिग्गहं' ति–प्रतिग्रहं–
भाजन, संलिह्य–अवलिह्य निरवशेषं कृत्वा, कथमित्याह—लेपमर्यादया–अलेपं संलिह्य, संयतः–साधुः, दुर्गन्धि वा–
सुगन्धि वा भोजनजातं, गन्धग्रहणं रसाद्युपलक्षणं, सर्वं–निरवशेषं भुञ्जीत–अश्नीयात्, नोज्झेत्–नोत्सृजेत् किञ्चिदपि,
मा भूत् संयमविराधनेति। अस्यैवार्थस्य गरीयस्त्वख्यापनाय पदार्थयोः व्यत्ययोपन्यासः। अनिष्टमन्वयो मानसिक इत्युक्तवान्
महान्समवाप्तं वा, कल्पैवं स्यात्–दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा सर्वं भुञ्जीत नोज्झेत। पतिग्रहं संलिह्य लेपमर्यादया संयतः।

विचित्रा च सूत्रगतिरिति ॥ १६० ॥

अयावयट्ठा भुच्चा णं, जइ तेणं न संथरे ॥ १६१ ॥

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो य गोअरे । तओ कारणमुप्पण्णे, भत्तपाणं गवेसए ॥ १६२ ॥

विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेणं उत्तरेण य ॥ १६२ ॥

विधिविशेषमाह–'सेज्ज'त्ति शय्यायां–वसतौ नैषेधिक्यां–स्वाध्यायभूमौ शय्यैव वा असमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी तस्यां, समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादिः, छात्र(छन्न)मठादौ च, अयावदर्थं भुक्त्वा न यावदर्थं अपरिसमाप्तमित्यर्थः । णमिति वाक्यालङ्कारे । यदि तेन–भुक्तेन, न संस्तरेत् न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वा भवति ॥ १६१ ॥ 'तओ'त्ति ततः कारणे–वेदनादौ उत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्तपानं गवेषयेत्–अन्वेषयेत् अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति । विधिना पूर्वोक्तेन "संप्राप्ते भिक्षाकाल" इत्यादिना, अनेन च वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण चेति ॥ १६२ ॥

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे । अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥१६३॥

अकाले चरसी भिक्खू, कालं न पडिलेहसि । अप्पाणं च किलामेसि, सांनिवेसं च गरिहसि ॥१६४॥

सइकाले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं । अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवुत्ति अहिआसए ॥ १६५ ॥

मरणशोकाद्युपद्रवोपद्रुत दारिद्र्यदौर्भाग्यकलङ्कमातकलुषितमिष्टवियोगानिष्टसंयोगदुःखजनितकष्टतरकार्यं क्षुधापि-पासाशीतोष्णक्लेशसहस्रसंकुल दैन्यचिन्ताजरादिभिः क्षणमप्यसुखसमीप संसारं विलोक्य, ततो निर्विण्णः प्रतिपद्याशु शारीर मानसानेकदुःखनलधिविलङ्घनसेतु सौभाग्यसौजन्यौदार्योपकारकरणपटिष्ठ ज्ञानविज्ञानजनकं निर्जितसमस्तराजन्यचक्राज्ञ-सम्पादक स्वर्गापवर्गादिसुखातिशयसन्दोह मोक्षफलदायक जैनधर्मं, ततो मुधिकया यथोपलब्धेनाहारजातेन जीवामीति । निश्चित्य तद्भाविकमहो एष धर्मः सर्वदुःखमोक्षसाधक इति निश्चित्य, विशेषेणाचार्यसमीपे धर्ममाकर्ण्य प्रतिबुद्धो राज्ये सुतं संस्थाप्य प्रव्रज्यामसौ नरपतिरग्रहीत् । एष मुधाजीवीति ॥ १५९ ॥

॥ इति पिण्डैषणाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः ५-१ ॥

पडिग्गहं संलिहित्ता णं, लेवमायाए संजए । दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥ १६० ॥

पिण्डैषणायाः प्रथमोद्देशक एव प्रकान्तोपयोगि यथोक्तं तद् द्वितीये समुपदर्शयन्नाह—'पडिग्गहं'ति—प्रतिग्रहं—भाजनं, संलिह्य—प्रदेशिन्या निरवयवं कृत्वा, कथमित्याह—लेपमर्यादया—अलेपं संलिह्य, संयतः—साधुः, दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा भोजनजातं, गन्धग्रहणं रसाद्युपलक्षणं, सर्वं—निरवशेषं भुञ्जीत—अश्नीयात्, नोज्झेत्—नोत्सृजेत् किञ्चिदपि, मा भूत् संयमविराधनेति । अस्यैवार्थस्य गरीयस्त्वख्यापनाय सूत्रार्थयोः व्यत्ययोपन्यासः । प्रतिग्रहशब्दो माङ्गलिक इत्युद्देशादौ ग्रहणमार्थं वा, अन्यथैवं स्यात्—दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा सर्वं भुञ्जीत नोज्झेत् । प्रतिग्रहं संलिह्य लेपमर्यादया संयतः ।

विचित्रा च सूत्रगतिरिति ॥ १६० ॥

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो य गोअरे । अयावयट्ठा भुच्चा णं, जइ तेणं न संथरे ॥ १६१ ॥

तओ कारणमुप्पण्णे, भत्तपाणं गवेसए । विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेणं उत्तरेण य ॥ १६२ ॥

विधिविशेषमाह–'सेज्ज'त्ति शय्यायां–वसतौ नैषेधिक्यां–स्वाध्यायभूमौ शय्यैव वा असमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी तस्यां, समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादिः, छात्र(छत्र)मठादौ च, अयावदर्थं भुक्त्वा न यावदर्थं अपरिसमाप्तमित्यर्थः । णमिति वाक्यालङ्कारे । यदि तेन–भुक्तेन, न संस्तरेत् न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वा भवति ॥ १६१ ॥ 'तओ'त्ति ततः कारणे–वेदनादौ उत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्तपानं गवेषयेत्–अन्वेषयेत् अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति । विधिना पूर्वोक्तेन "संप्राप्ते भिक्षाकाले" इत्यादिना, अनेन च वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण चेति ॥ १६२ ॥

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे । अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥१६३॥

अकाले चरसी भिक्खू, कालं न पडिलेहसि । अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि ॥१६४॥

सइकाले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं । अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवुत्ति अहिआसए ॥ १६५ ॥

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया। तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥१६६॥
गोयरग्गपविट्ठो अ, न निसीए(इ)ज्ज कत्थई। कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ता ण व संजए ॥१६७॥
अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वावि संजए। अवलंबिआ न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥१६८॥
समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं। उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१६९॥
तमइक्कमित्तु न पविसे, नवि चिट्ठे चक्खुगोयरे। एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥१७०॥
वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा। अप्पत्तिअं सिआ हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥१७१॥
पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए। उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१७२॥

कालेणत्ति, यो यस्मिन् ग्रामादावुचितो भिक्षाकालस्तेन करणभूतेन निष्क्रामेत्, भिक्षुर्यती ब्रजेत् यमतेर्भि-थायै, कालेन चोचितेनैव यावता स्वाध्यायादि निष्पद्यते तावता प्रतिक्रामेत्-निवर्तेत, भणियं च-" खित्तं कालो भायणं तिन्नि वि पडुप्पंति हिंडउ'त्ति अट्ठभंगा", अकालं च वर्जयित्वा येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते, स खल्वकालः समपास्य काले कालं समाचरेदिति सर्वयोगोपसंग्रहार्थं निगमनं, भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यायादिवेलायां स्वाध्यायादी-नीति। उक्तं च-" जोगो जोगो जिणसासणम्मि दुक्खक्खया पउंजंते। अन्नोन्नमबाहाए असवत्तो होइ कायव्वो ॥ १ ॥"

(ओघ० नि० गा० २७७)॥ १६३ ॥ अकालचरणे दोपमाह–अकालेत्ति, अकालचारी कश्चित्साधुरलब्धभैक्षः केनचित्साधुना 'प्राप्ता भिक्षा न वे'त्यभिहितः सन्नेवं ब्रूयात्–कुतोऽत्र स्थण्डिलसन्निवेशे भिक्षा ?, स तेनोक्तः–अकाले चरसि भिक्षो ! प्रमादात् स्वाध्यायलोभाद्वा, कालं न प्रत्युपेक्षसे, किमयं भिक्षाकालो न वेति, अकालचरणेनात्मानं च क्लामयसि (ग्लपयसि) दीर्घाटनन्यूनोदरताभावेन, सन्निवेसं च गर्हसि भगवदाज्ञालोपतो दैन्यं प्रतिपद्येति । यस्मादयं दोपः समासाद्यते तस्मादकालाटनं न कुर्यादिति ॥ १६४ ॥ आह च–सइत्ति, सति–विद्यमाने भिक्षाकाले–भिक्षासमये चरेत् भिक्षुः । अन्ये तु व्याचक्षते–स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, संस्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृतिकालः तस्मिन् चरेत् भिक्षुः–भिक्षार्थं यायात्, कुर्यात् पुरुपकारं, जङ्घाबले सति वीर्याचारं न लङ्घयेत्, तत्र चालाभे सति भिक्षाया अलाभ इति न च शोचयेत्, वीर्याचाराराधनस्य निष्पन्नत्वात्, तदर्थं च भिक्षाटनं नाहारार्थमेवातो न शोचयेत्, अपि तु तप इत्यधिसहेत, अनशनन्यूनोदरतालक्षणं तपो भविष्यतीति सम्यग् विचिन्तयेदिति ॥ १६५ ॥ उक्ता कालयतना । अधुना क्षेत्रयतनामाह–तहेवत्ति, तथैवोच्चावचाः–शोभनाशोभनभेदेन नानाप्रकाराः प्राणिनो भक्तार्थं समागताः बलिप्राभृतिकादिष्वागता भवन्ति, तदृजुगं–तेपामभिमुखं न गच्छेत्, तत्सन्त्रासनेनान्तरायाधिकरणादिदोपात्, किन्तु यतमेव पराक्रामेत्, तदुद्वेगमनुत्पादयन्निति ॥ १६६ ॥ किंच–गोयरग्गत्ति, गोचराग्रप्रविष्टस्तु भिक्षार्थं प्रविष्ट इत्यर्थः । न निपीदेत्–नोपविशेत्, क्वचित्–गृहदेवकुलादौ संयमोपघातादिप्रसङ्गात्, कथां च–धर्मकथादिरूपां न प्रबध्नीयात्–प्रबन्धेन न कुर्याद्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह, अत एवाह–स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इति, अनेपणाद्वेपादि-

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया। तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥१६६॥
गोयरग्गपविट्ठो अ, न निसीए(इ)ज्ज कत्थई। कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ता ण व संजए ॥१६७॥
अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वावि संजए। अवलंबिआ न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥१६८॥
समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं। उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१६९॥
तमइक्कमित्तु न पविसे, नवि चिट्ठे चक्खुगोयरे। एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥१७०॥
वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा। अप्पत्तिअं सिआ हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥१७१॥
पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए। उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१७२॥

कालेणत्ति, यो यस्मिन् ग्रामादावुचितो भिक्षाकालस्तेन करणभूतेन निष्क्रामेत्, भिक्षुर्व्रती व्रजेत् चमतेभि-याये, कालेन चोचितेनैव यावता स्वाध्यायादि निष्पद्यते तावता प्रतिक्रामेत्-निवर्तेत, भणियं च-“ खित्त कालो भायणं तिन्नि वि पडुप्पंति हिंडउ'त्ति अट्ठभंगा ”, अकालं च वर्जयित्वा येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते, स खल्वकालः तमपास्य काले कालं समाचरेदिति सर्वयोगोपसंग्रहार्थं निगमनं, भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यायादिवेलायां स्वाध्यायादीनीति। उक्तं च-“ जोगो जोगो जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउंजंते। अन्नोन्नमबाहाए असवत्तो होइ कायव्वो ॥ १ ॥”

(ओघ० नि० गा० २७७)॥ १६३ ॥ अकालचरणे दोषमाह–अकालेत्ति, अकालचारी कश्चित्साधुरलब्धभैक्षः केनचित्साधुना 'प्राप्ता भिक्षा न वे'त्यभिहितः सन्नेवं ब्रूयात्–कुतोऽत्र स्थण्डिलसन्निवेशे भिक्षा ?, स तेनोक्तः–अकाले चरसि भिक्षो ! प्रमादात् स्वाध्यायलोभाद्वा, कालं न प्रत्युपेक्षसे, किमयं भिक्षाकालो न वेति, अकालचरणेनात्मानं च क्लामयसि (ग्लपयसि) दीर्घाटनन्यूनोदरताभावेन, सन्निवेसं च गर्हसि भगवदाज्ञालोपतो दैन्यं प्रतिपद्येति। यस्मादयं दोषः समाप्यते तस्मादकालाटनं न कुर्यादिति ॥ १६४ ॥ आह च–सइत्ति, सति–विद्यमाने भिक्षाकाले–भिक्षासमये चरेत् भिक्षुः। अन्ये तु व्याचक्षते–स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, संस्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृतिकालः तस्मिन् चरेत् भिक्षुः–भिक्षार्थं यायात्, कुर्यात् पुरुषकारं, जङ्घाबले सति वीर्याचारं न लङ्घयेत्, तत्र चालाभे सति भिक्षाया अलाभ इति न च शोचयेत्, वीर्याचाराराधनस्य निष्पन्नत्वात्, तदर्थं च भिक्षाटनं नाहारार्थमेवातो न शोचयेत्, अपि तु तप इत्यधिसहेत, अनशनन्यूनोदरतालक्षणं तपो भविष्यतीति सम्यग् विचिन्तयेदिति ॥ १६५ ॥ उक्ता कालयतना। अधुना क्षेत्रयतनामाह–तहेवत्ति, तथैवोच्चावचाः–शोभनाशोभनभेदेन नानाप्रकाराः प्राणिनो भक्तार्थं समागताः बलिप्राभृतिकादिष्वागता भवन्ति, तदृजुकं–तेषामभिमुखं न गच्छेत्, तत्सन्त्रासनेनान्तरायाधिकरणादिदोषात्, किन्तु यतमेव पराक्रामेत्, तदुद्वेगमनुत्पादयन्निति ॥ १६६ ॥ किंच–गोयरग्गत्ति, गोचराग्रप्रविष्टस्तु भिक्षार्थं प्रविष्ट इत्यर्थः। न निषीदेत्–नोपविशेत्, क्वचित्–गृहदेवकुलादौ संयमोपघातादिप्रसङ्गात्, कथां च–धर्मकथादिरूपां न प्रबध्नीयात्–प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह, अत एवाह–स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इति, अनेषणाद्वेषादि-

८

दोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ १६७ ॥ उक्ता क्षेत्रयतना। द्रव्ययतनामाह-अग्गलमिति, अर्गलां-गोपुरकपाटादिसम्बन्धिनीं फलकं-पाटकादिस्थगनं, द्वारं शाखामयं, कपाटं द्वारयन्त्रं, वापि संयतोऽवलम्ब्य न तिष्ठेल्लाघवविराधनादोषात्। गोचराग्रगतो-भिक्षाप्रविष्टः, संयतो यतिः मुनिपर्यायौ, तदुपदेशाधिकाराददुष्टावेवेति ॥ १६८ ॥ उक्ता द्रव्ययतना। भावयतनामाह-समणंति, श्रमणं-निर्ग्रन्थादिरूपं, ब्राह्मणं-धिग्वर्णं, वापि कृपणं वा पिण्डोलकं, वनीपकं-दरिद्रं चतुर्णामन्यतममुपसङ्क्रामन्तं-सामीप्येन गच्छन्तं वा गतं वा भक्तार्थं पानार्थं वा संयतः-साधुरिति ॥ १६९ ॥ तम-इक्कमित्तुत्ति, तं-श्रमणादिमतिक्रम्योल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, दीयमाने च समुदाने तेभ्यो न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे, कस्तत्र विधि-रित्याह-एकान्तमवक्रम्य तत्र तिष्ठेत्संयत इति ॥ १७० ॥ अन्यथैतद्दोषा इत्याह-वणीमगस्सत्ति, वनीपकस्य वा तस्येत्येतत् श्रमणाद्युपलक्षणं, दातुर्वा उभयोर्वा अप्रीतिः कदाचित्स्यात्-अहो अलौकिकज्ञतैतेषामिति लघुत्वं प्रवचनस्य वाऽन्तरायदोषश्चेति तस्मान्नैव कुर्यात् ॥ १७१ ॥ किंतु-पडिसेहिए वेत्ति, प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा ततः स्थानात् तस्मिन् वनीपकादौ निवर्त्तिते सति उपसङ्क्रामेत् भक्तार्थं पानार्थं वापि संयत इति ॥ १७२ ॥

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं। अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संलुंचिआ दए ॥ १७३ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७४ ॥
उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं। अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संमद्दिआ दए ॥ १७५ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७६ ॥
सालुयं वा विरालियं, कुमुअं उप्पलनालिअं । मुणालिअं सासवनालिअं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥१७७॥
तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा । अन्नस्स वा वि हरिअस्स, आमगं परिवज्जए ॥१७८॥
तरुणिगं वा छिवाडिं, आमिअं भज्जिअं सइं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१७९॥
तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेलुअं कासवनालिअं । तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ॥ १८० ॥
तहेव चाउलं पिट्ठं, विअडं वा तत्तऽनिव्वुडं । तिलपिट्ठपूइपिन्नागं, आमगं परिवज्जए ॥ १८१ ॥
कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलगत्तिअं । आमं असत्थपरिणयं, मणसावि न पत्थए ॥ १८२ ॥
तहेव फलमंथूणि, बीअमंथूणि जाणिआ । बिहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ १८३ ॥

परपीडाप्रतिषेधाधिकारादिदमाह–उप्पलंति, उत्पलं–नीलोत्पलादि, पद्मं–अरविन्दं, कुमुदं वा गर्दभकं वा मगदन्तिकां मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये, तथाऽन्यद्वा पुष्पं सचित्तं–शाल्मलीपुष्पादि, तच्च–संलुञ्च्य–अपनीय छित्वा दद्यादिति ॥ १७३ ॥ तारिसंति, तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवं अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ १७४ ॥ एवं तच्च संमृद्य दद्यात्, संमर्दनं नाम पूर्वच्छिन्नानामेवापरिणतानां मर्दनम्, शेषं

दोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ १६७ ॥ उक्ता क्षेत्रयतना। द्रव्ययतनामाह-अग्गलमिति, अर्गलां-गोपुरकपाटादिसम्बन्धिनीं फलकं-पाटकादिस्थगनं, द्वारं शाखामयं, कपाटं द्वारयन्त्रं, वापि संयतोऽवलम्ब्य न तिष्ठेल्लाघवविराधनादोषात्। गोचराग्रगतो-भिक्षाप्रविष्टः, संयतो यतिः मुनिपर्यायौ, तदुपदेशाधिकाराददुष्टावेवेति ॥ १६८ ॥ उक्ता द्रव्ययतना। भावयतनामाह-समणंति, श्रमणं-निर्ग्रन्थादिरूपं, ब्राह्मणं-धिग्वर्णं, वापि कृपणं वा पिण्डोलकं, वनीपकं-दरिद्रं चतुर्णामन्यतममुपसङ्क्रामन्तं-सामीप्येन गच्छन्तं वा गतं वा भक्तार्थं पानार्थं वा संयतः-साधुरिति ॥ १६९ ॥ तमइक्कमित्तुत्ति, तं-श्रमणादिमतिक्रम्योल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, दीयमाने च समुदाने तेभ्यो न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे, कस्तत्र विधिरित्याह-एकान्तमवक्रम्य तत्र तिष्ठेत्संयत इति ॥ १७० ॥ अन्यथैतद्दोषा इत्याह-वणीमगस्सत्ति, वनीपकस्य वा तस्येत्येतत् श्रमणाद्युपलक्षणं, दातुर्वा उभयोर्वा अप्रीतिः कदाचित्स्यात्-अहो अलौकिकज्ञतैतेषामिति लघुत्वं प्रवचनस्य वाऽन्तरायदोषश्चेति तस्मान्नैव कुर्यात् ॥ १७१ ॥ किंतु-पडिसेहिए वेति, प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा ततः स्थानात् तस्मिन् वनीपकादौ निवर्त्तिते सति उपसङ्क्रामेत् भक्तार्थं पानार्थं वापि संयत इति ॥ १७२ ॥

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं। अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संलुंचिआ दए ॥ १७३ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७४ ॥

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं। अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संमद्दिआ दए ॥ १७५ ॥

यवादिचूर्णान् ज्ञात्वा प्रवचनतः बिभीतकं-बिभीतकफलं, प्रियालं-प्रियालफलं च आमं-अपरिणतं परिवर्जयेदित्यर्थः॥१८३॥

समुआणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया । नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥ १८४ ॥
अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए । अमुच्छिओ भोअणंमि, मायण्णे एसणारए ॥ १८५ ॥
बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं । न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥ १८६ ॥
सयणासणवत्थं वा, भत्तं पाणं व संजए। अदिंतस्स न कुप्पिज्जा, पच्चक्खेवि अ दीसओ ॥ १८७ ॥

विधिमाह-समुयाणंति, समुदानं भावभैक्ष्यमाश्रित्य चरेत्-गच्छेत् भिक्षुः । कथमाह-कुलमुच्चावचं सदा, अगर्हितत्वे सति विभवापेक्षया प्रधानमप्रधानं च, यथा परिपाट्येव चरेत्-गच्छेत् सदा-सर्वकालं, नीचं कुलमतिक्रम्य विभवापेक्षया प्रभूततरलाभार्थं उत्सृतं-ऋद्धिमत् कुलं, नाभिधारयेत्-न यायात्, अभिष्वङ्गलोकलाघवादिप्रसङ्गादिति ॥ १८४ ॥ किंच-अदीणोत्ति, अदीनो-द्रव्यदैन्यमङ्गीकृत्याम्लानवदनः, वृत्ति-वर्त्तनं एषयेत्-गवेषयेत्, न विषीदेत्-अलाभे सति विषादं न कुर्यात्, पण्डितः-साधुः, अमूर्छितः-अगृद्धो भोजने, लाभे सति मात्राज्ञ आहारमात्रां प्रति एषणारतः-उद्गमोत्पादनैषणापक्षपातीति ॥ १८५ ॥ एवं च परिभावयेत्-बहुंति, बहु-प्रमाणतः प्रभूतं परगृहे-असंयतादिगृहेऽस्ति विविधं-अनेकप्रकारं खाद्यं स्वाद्यं, एतच्चाशनाद्युपलक्षणं, न तत्र पण्डितः कुप्येत्-सदपि न ददातीति न रोषं कुर्यात्, किंतु-इच्छया दद्यात्परो न वेति, इच्छा परस्य, न तत्रान्यत् किञ्चिदपि चिन्तयेत्,

पत्रद्वयेऽपि तुल्यम्। आह 'एतत्पूर्वमप्युक्तमेव, "संमद्दमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य," इत्यत्र, उच्यते–उक्तं नाम सामान्येन, विशेषाऽभिधानाददोषः ॥ १७५-१७६ ॥ तथा सालुयंति, शालूकं–उत्पलकन्दं, विरालिका–पलाशकन्दरूपां, पर्ववल्लिप्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये। कुमुदोत्पलनालौ प्रतीतौ, तथा मृणालिकां–पद्मिनीकन्दोत्थाम्, सर्षपनालिकां–सिद्धार्थकमञ्जरीं, तथेक्षुखंडमनिर्वृत्तं–सचित्तं, एतच्चानिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसम्बध्यते इति ॥ १७७ ॥ किञ्च–तरुणगंति, तरुणकं वा प्रवालं–पल्लवं, वृक्षस्य–चिञ्चिणिकादेः, तृणस्य वा–मधुरतृणादेः, अन्यस्य वापि हारितस्यार्यकादेः, आमकं–अपरिणतं परिवर्जयेदिति ॥ १७८ ॥ तथा तरुणियं वत्ति, तरुणां वा असंजातां वा छिवाडिमिति मुद्गादिफलिं, आमामसिद्धां सचेतनां, तथा भर्जिता, सकृत्–एकवारं, ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशं भोजनमिति ॥ १७९ ॥ तहा कोलंति, तथा कोलं–बदरं अस्विन्नं–वह्न्युदकयोगेनानापादितविकारान्तरं, तथा वेलुकं वंसकरिल्लं, कासवनालिकां श्रीपर्णीफलं, अस्विन्नमिति सर्वत्र योज्यम्। तथा तिलपर्पटकं–पिष्टतिलमयं, नीमं–नीमफलं, आमं परिवर्जयेदिति ॥ १८० ॥ तहेवत्ति, तथैव तान्दुलं पिट्ठं–लोट्ठ(ट्ठ)मित्यर्थः, विकटं वा–शुद्धोदकं, तथा तप्तनिर्वृतं क्वथितं सच्छीतीभूतं, तप्तानिर्वृतं वा–अप्रवृत्तत्रिदण्डं, तिलपिट्ठं–तिललोट्ठं(ट्ठं) पूतिपिन्नागं–सिद्धार्थकखलं, आमं परिवर्जयेदिति ॥ १८१ ॥ कविट्ठंति, कपित्थं–कपित्थफलं, मातुलिङ्गं वा–बीजपूरकं, मूलकं मपत्रजालकं, मूलकर्तृकां–मूलकन्दचक्कलीं, आमां अपक्वामशस्त्रपरिणतां स्वकायशस्त्रादिनाऽविध्वस्तां अनन्तकायिकत्वात् गुरुत्वख्यापनार्थमुभयम्। मनसापि न प्रार्थयेदिति ॥ १८२ ॥ तहेवत्ति, तथैव फलमन्थून्–बदरचूर्णान्, बीजमन्थून्–

जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी। संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥ १९३ ॥

पूअणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए। बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुवइ ॥ १९४ ॥

स्वपक्षस्तेयप्रतिषेधमाह—सियत्ति, स्यात्–कदाचित् एककः–कश्चिदत्यन्तजघन्यो लब्ध्वोत्कृष्टमाहारं लोभेन–अभिष्वङ्गेण विनिगूहते–अहमेव भोक्ष्य इत्यन्तप्रान्तादिनाऽऽच्छादयति। किमित्यत आह–मा मम इदं भोजनजातं दर्शितं सद्दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमादद्यादात्मनैव गृह्णीयादिति ॥ १९० ॥ अस्य दोषमाह–अत्तट्ठुत्ति, आत्मार्थ एव [जघन्यो] गुरुः–[पाप]प्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः, लुब्धः सन् क्षुद्रभोजने बहु–प्रभूतं पापं प्रकरोति–मायया द्रारिद्र्य-कर्मेत्यर्थः। अयं परलोकदोषः। इहलोकदोषमाह–दुस्तोषश्च भवति–येन केनचिदाहारेणास्य क्षुद्रसत्त्वस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते। अत एव निर्वाणं च न गच्छति–इहलोके च धृतिं न लभते, अनन्तसंसारिकत्वाद्वा मोक्षं न गच्छतीति ॥१९१॥ एवं यः प्रत्यक्षमपहरति स उक्तः, अधुना यः परोक्षमपहरति स उच्यते–सियत्ति, स्यादेको लब्ध्वेति पूर्ववत्, विविधं–अनेकप्रकारं पानभोजनं तत्र भिक्षाचर्यागत एव भद्रकं भद्रकं–घृतपूर्णादि भुक्त्वा विवर्ण–विगतवर्णं आम्लखलादि, विरसं–विगतरसं–शीतौदनादि आहरेद्–आनयेदिति ॥ १९२ ॥ स किमर्थमेवं कुर्यादित्याह–जाणंतुत्ति, जानन्तु मां तावत् इमे श्रमणाः–शेषसाधवः यथा आयतार्थी–मोक्षार्थी अयं मुनिः–साधुः सन्तुष्टो–लाभालाभयोः समः सेवते प्रान्तं–असारं, रूक्षवृत्तिः–संयमवृत्तिः, सुतोष्यः–येन केनचित्तोषं नीयत इति ॥१९३॥ एतदेव किमर्थमेवं कुर्यादित्याह–पूयणट्ठत्ति. पूजार्थमेवं कुर्वतः स्वपक्षपरपक्षाभ्यां सामान्येन पूजा भविष्यतीति, यशस्कामी–अहो अयमिति प्रवादार्थी

सामायिकबाधनादिति ॥ १८६ ॥ एतदेव विशेषेणाह-सयणत्ति, शयनासनवस्त्रं चेत्येकत्वद्भावः । भक्तं पानकं वा सयतोऽददतो न कुप्येत तत्स्वामिनः, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने शयनासनादाविति ॥ १८७ ॥

इत्थिअं पुरिसं वावि, डहरं वा महल्लगं । वंदमाणं न जाइज्जा, नो अ णं फरुसं वए ॥ १८८ ॥

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे । एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठइ ॥ १८९ ॥

किंच-इत्थियंति, स्त्रियं वा पुरुषं वा, अपिशब्दात् तथाविधं नपुंसकं वा डहरं-तरुणं, महल्लकं वा-वृद्धं वा, वाशब्दान्मध्यम वा, वन्दमानं सन्तं भद्रकोऽयमिति न याचयेत्, विपरिणामदोषात्, अभावभावेन याचितादाने, न चैनं परुषं ब्रूयात्-वृथा ते वन्दनमित्यादिरिति । पाठान्तरं वा-'वन्दमानो न याचेत लक्षिण्याकरणेन' शेषं पूर्ववदिति ॥१८८॥ तथा-जे न वंदेत्ति, यो न वन्दते कश्चिद् गृहस्थादिर्न से तस्मै कुप्येत् । तथा वन्दितः केनचिन्नृपादिना न समुत्कर्षेत् । एवं-उक्तेन प्रकारेण अन्वेषमाणस्य-भगवदाज्ञामनुपालयतः, श्रामण्यमनुतिष्ठति अखण्डितमिति सूत्रार्थः ॥ १८९ ॥

सिआ एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ । मामेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए ॥ १९० ॥

अत्तट्ठागुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ । दुत्तोसओ अ सो होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥ १९१ ॥

सिआ एगइओ लद्धुं, विविहं पाणभोअणं । भद्दगं भद्दगं भुच्चा, विवन्नं विरसमाहरे ॥ १९२ ॥

जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी। संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥ १९३ ॥
पूअणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए। बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥ १९४ ॥

स्वपक्षस्तेयप्रतिषेधमाह—सियत्ति, स्यात्–कदाचित् एककः–कश्चिदत्यन्तजघन्यो लब्ध्वोत्कृष्टमाहारं लोभेन–अभिष्वङ्गेण विनिगूहते–अहमेव भोक्ष्य इत्यन्तप्रान्तादिनाऽऽच्छादयति । किमित्यत आह–मा मम इदं भोजनजातं दर्शितं सद्दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमादद्यादात्मनैव गृह्णीयादिति ॥ १९० ॥ अस्य दोषमाह–अत्तट्ठत्ति, आत्मार्थ एव [जघन्यो] गुरुः-[पाप]प्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः, लुब्धः सन् क्षुद्रभोजने बहु–प्रभूतं पापं प्रकरोति–मायया द्रारिद्र्य-कर्मेत्यर्थः । अयं परलोकदोषः । इहलोकदोषमाह–दुस्तोषश्च भवति–येन केनचिदाहारेणास्य क्षुद्रसत्त्वस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते । अत एव निर्वाणं च न गच्छति–इहलोके च धृतिं न लभते, अनन्तसंसारिकत्वाद्वा मोक्षं न गच्छतीति ॥१९१॥ एवं यः प्रत्यक्षमपहरति स उक्तः, अधुना यः परोक्षमपहरति स उच्यते–सियत्ति, स्यादेको लब्ध्वेति पूर्ववत्, विविधं–अनेकप्रकारं पानभोजनं तत्र भिक्षाचर्यागत एव भद्रकं भद्रकं–घृतपूर्णादि भुक्त्वा विवर्णं–विगतवर्णं आम्लखलादि, विरसं–विगतरसं–शीतौदनादि आहरेद्–आनयेदिति ॥ १९२ ॥ स किमर्थमेवं कुर्यादित्याह–जाणंतुत्ति, जानन्तु मां तावत् इमे श्रमणाः–शेषसाधवः यथा आयतार्थी–मोक्षार्थी अयं मुनिः–साधुः सन्तुष्टो–लाभालाभयोः समः सेवते प्रान्तं–असारं, रूक्षवृत्तिः–संयमवृत्तिः, सुतोष्यः–येन केनचित्तोपं नीयत इति ॥१९३॥ एतदेव किमर्थमेवं कुर्यादित्याह–पूयणट्ठत्ति, पूजार्थमेवं कुर्वतः स्वपक्षपरपक्षाभ्यां सामान्येन पूजा भविष्यतीति, यशस्कामी–अहो अयमिति यवादार्थी

वा, मानसन्मानकामकः एवं कुर्यात् । तत्र वन्दनाभ्युत्थानलाभनिमित्तो मानो, वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तश्च सन्मान इति । स चैवम्भूतो बहु-अतिप्रचुर प्रधानसंक्लेशयोगात् प्रसूते-निर्वर्तयति पापं, तद्गुरुत्वादेव सम्यगनालोचयन् मायाशल्यं च-भावशल्यं च करोतीति ॥ १९४ ॥

सुरं वा मेरगं वा वि, अन्नं वा मज्जगं रसं । ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥१९५॥
पियए एगओ तेणो, न मे कोइ विआणइ । तस्स पस्सह दोसाइं, निअडिं च सुणेह मे ॥ १९६ ॥
वड्ढई सुंडिआ तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो । अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुआ ॥ १९७ ॥
निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई । तारिसो मरणंतेऽवि, न आराहेइ संवरं ॥ १९८ ॥
आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसे । गिहत्थावि ण गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ १९९ ॥
एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जए । तारिसो मरणंतेऽवि, ण आराहेति संवरं ॥ २०० ॥

प्रतिषेधान्तरमाह-सुरं वे ति, सुरां वा-पिष्टादिनिष्पन्नां, मेरकं चापि-प्रसन्नाख्यां, सुराप्रायोग्यद्रव्यनिष्पन्नमन्यं वा, मद्यरसं-सीध्वादिरूपं, ससाक्षिकं-सदापरित्यागसाक्षिकेवलिप्रतिषिद्धं न पिबेत् भिक्षुः, अनेनात्यन्तिक एव तत्प्रतिषेधः, सदासाक्षिभावात् । किमिति न पिबेदित्याह-यशः संरक्षन्नात्मनः, यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते । अन्ये तु ग्लानाप-

वादविपयं एतत् सूत्रमल्पसागारिकविधानेन व्याचक्षत इति ॥ १९५ ॥ अत्रैव दोपमाह-पियएत्ति, पिवत्येको-धर्मसहाय-
विप्रमुक्त एकान्तस्थितो वा स्तेनः-चौरोऽसौ भगवददत्तग्रहणात् अन्योपदेशयाचनाद्वा न मां कश्चिज्जानाति विभावयन्
तस्येत्थंभूतस्य पश्यत दोषानैहिकान् पारलौकिकांश्च निकृतिं च-मायारूपां शृणुत ममेति ॥ १९६ ॥ वड्ढइत्ति, वर्धते
शौण्डिका-तदत्यन्ताभिष्वङ्गरूपा तस्य मायामृषावादं चेत्येकवद्भावः, प्रत्युपलब्धापलापेन वर्द्धते तस्य भिक्षोः,
इदं च भवपरम्पराहेतुरनुबन्धदोषात्, तथाऽयशश्च स्वपक्षपरपक्षयोः, तथा अतृप्तिदुःखं-अनिर्वाणं, तदलाभे सततं चा-
साधुता लोके व्यवहारतश्चरणपरिणामबाधनेन परमार्थत इति ॥ १९७ ॥ निच्चुव्विगोत्ति, स इत्थंभूतो नित्योद्विग्नः-सदा
अप्रशान्तो यथा स्तेनः-चौरः आत्मकर्मभिः-स्वदुश्चरितैः दुर्मतिः-दुर्बुद्धिस्तादृशः-क्लिष्टचित्तो(सत्त्वो) मरणान्तेऽपि-
चरमकालेऽपि नाराधयति संवरं-चारित्रं, सदैवाकुशलबुद्धया तद्बीजाभावादिति ॥ १९८ ॥ तथा आयरिएत्ति आचा-
र्यान् नाराधयत्यशुद्धभावत्वात् श्रमणांश्चापि तादृशो नाराधयत्यशुद्धभावत्वादेव, गृहस्था अप्येनं दुष्टशीलं गर्हन्ति-
कुत्सन्ति। किमिति ?, येन जानन्ति तादृशं-दुष्टशीलमिति ॥१९९॥ एवं तु त्ति, एवं तु उक्तेन प्रकारेण अगुणप्रेक्षी-
अगुणान्-प्रमादादीन् प्रेक्षते तच्छीलश्च य इत्यर्थः। तथा गुणानां चाप्रमादादीनां स्वगतानामनासेवनेन परगतानां
च प्रद्वेषेण विवर्जकः-त्यागी, तादृशः-क्लिष्टचित्तो मरणान्तेऽपि नाराधयति संवरं-चारित्रमिति गाथार्थः ॥ २०० ॥
तवं कुव्वइ मेहावी, पणीअं वज्जए रसं। मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥ २०१ ॥
तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइअं। विउलं अत्थसंजुत्तं, कित्तइस्सं सुणेह मे ॥ २०२ ॥

एवं तु सगुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए । तारिसो मरणंतेऽवि, आराहेइ संवरं ॥ २०३ ॥
आयरिए आराहेइ, समणे आवि तारिसे। गिहत्थावि ण(एणं) पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ २०४ ॥

यतश्चैवमत एतद्दोषपरिहारेण—तवंति, तपः प्रकरोति मेधावी-मर्यादावर्त्ती, प्रणीतं-स्निग्धं वर्जयति रसं-घृतादिकं, न केवलमेतत्करोति अपि तु मद्यप्रमादविरतो, नास्ति क्लिष्टसत्त्वानामकृत्यमित्येवं प्रतिषेधः। तपस्वी-साधुः अत्युत्कर्षः-अहं तपस्वीत्युत्कर्षरहित इति सूत्रार्थः ॥ २०१ ॥ तस्सत्ति, तस्येत्थभूतस्य पश्यत कल्याणं-गुणसम्पद्रूपं संयमम्। किं विशिष्टमित्याह-अनेकसाधुपूजितं पूजितमिति-सेवितमाचरितं, विपुलं-विस्तीर्णं विपुलमोक्षावहत्वात्। अर्थसंयुक्तं-तुच्छत्वादिपरिहारेण निरुपमसुखरूपमोक्षसाधनत्वात्, कीर्त्तयिष्ये अहं शृणुत मे-ममेति ॥ २०२ ॥ एवं तु, एवं तु-उक्तेन प्रकारेण स-साधुर्गुणप्रेक्षी-गुणान्-अप्रमादादीन् प्रेक्षते तच्छीलश्च य इत्यर्थः, तथा अगुणानां च-प्रमादादीनां स्वगतानामनासेवनेन परगतानां चाननुमत्या विवर्जकः-त्यागी, तादृशः-शुद्धवृत्तो मरणान्तेऽपि-मरण(चरम)कालेऽपि आराधयति संवरं-चारित्रं सदैव कुशलबुद्ध्या तद्बीजपोषणादिति । २०३ ॥ आयरियएत्ति, आचार्यान् आराधयति, शुद्धभावत्वात्। श्रमणांश्चापि तादृशः समाराधयति, शुद्धभावत्वादेव, गृहस्था अप्येनं-शुद्धवृत्तं पूजयन्ति, किमिति? येन जानन्ति तादृशं-शुद्धवृत्तमिति ॥ २०४ ॥

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे। आयारभावतेणे अ, कुव्वई देवकिब्बिसं ॥ २०५ ॥

लद्धूणवि देवत्तं, उववन्नो देवकिव्विसे। तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं? ॥ २०६ ॥
तत्तोवि से चइत्ताणं, लब्भिही एलमूअगं। नरयं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ २०७ ॥
एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअं। अणुमायंपि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥ २०८ ॥

स्तेनाधिकार एवेदमाह–तवत्ति, तपस्तेनो वाक्स्तेनो रूपस्तेनश्च यो नरः कश्चिद् आचारभावस्तेनश्च [नामक्षपकरूपश्च] पालयन्नपि क्रियां तथाभावदोषात् करोति देवकिल्बिषं कर्म्म निर्वर्त्तयतीत्यर्थः, तत्र तपस्तेनो नाम क्षपकरूपकल्पः कश्चित् केनचित् पृष्टः, त्वमसौ क्षपक इति ?, पूजाद्यर्थमाह–अहं, अथवा वक्ति–साधव एव क्षपकास्तूष्णीं वाऽऽस्ते, एवं वाक्स्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति। एवं रूपस्तेनो राजपुत्रादेस्तुल्यरूपः। एवमाचारस्तेनो विशिष्टाचारवर्त्ति-तुल्यरूप इति। भावस्तेनस्तु परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित्केनचित् श्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याहेति ॥ २०५ ॥ अयं चेत्थंभूतः, लद्धूणवित्ति, लब्ध्वापि देवत्वं तथाविधक्रियापालनवशेनोपपन्नो देवकिल्बिषे–देवकिल्बिषिका ये, तत्राप्यसौ न जानाति विशुद्धावध्यभावात्, किं मम कृत्वेदं फलं–किल्बिषिकदेवत्वमिति ॥ २०६ ॥ अस्यैव दोषान्तर-माह–तत्तोत्ति, ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एलमूकताम्–अजभाषानुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं तिर्य-ग्योनिं वा पारम्पर्येण लप्स्यते, बोधिर्यत्र सुदुर्लभः–सकलसम्पन्निबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा। इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भावप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति ॥ २०७ ॥ प्रकृतमुपसंहरति–

एयं चेति, एनं दोषं-अनन्तरोदितं सत्यपि श्रामण्ये किल्बिषिकत्वादिप्राप्तिरूपं दृष्ट्वा आगमतो ज्ञातपुत्रेण-भगवता वर्द्धमानेन भाषितं-उक्तं अणुमात्रमपि-स्तोकमात्रमपि, किमुत प्रभूतं ? मेधावी-मर्यादावर्ती, मायामृषावादं-अनन्तरोदितं विवर्जयेत्परित्यजेदिति ॥ २०८ ॥

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थ भिक्खु सुप्पणिहिइंदिए, तिव्वलज्जगुणवं विहरिज्जासि ॥ २०९ ॥ त्तिबेमि ।

॥ पंचमं पिंडेसणानामज्झयणं समत्तं ॥

अध्ययनार्थमुपसंहरन्नाह-सिक्खिऊणत्ति, शिक्षयित्वाऽधीत्य भिक्षैषणाशुद्धिं-पिण्डमार्गणाशुद्धिमुद्गमादिरूपां, केभ्यः सकाशादित्याह-संयतेभ्यः-साधुभ्यः, बुद्धेभ्योऽवगततत्त्वेभ्यो गीतार्थेभ्यो न द्रव्यसाधुभ्यः सकाशात् । ततः किमित्याह-तत्र भिक्षैषणायां भिक्षुः-साधुः सुप्रणिहितेन्द्रियः-श्रोत्रादिभिर्गाढं तदुपयुक्तस्तीव्रलज्जः-उत्कृष्टसंयमः सन्, अनेन प्रकारेण गुणवान् विहरेत्-सामाचारीपालनं कुर्यात्, ब्रवीमीति पूर्ववदिति ॥ २०९ ॥

॥ इति पिण्डैषणाध्ययने द्वितीय उद्देशकः समाप्तः, समाप्तं च पिण्डैषणाध्ययनम् ५ ॥



व्याख्यातं पिण्डैषणाध्ययनं, अधुना महाचारकथाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तराध्ययने साधोर्भिक्षाविशोधिरुक्ता, इह तु गोचरप्रविष्टेन सता स्वाचारं पृष्टेन तद्विदाऽपि न महाजनसमक्षं तत्रैव विस्तरतः कथयितव्य इति, अपि त्वालये गुरवो वा कथयन्तीति वक्तव्यमित्येतदुच्यते, उक्तं च—" गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थइ। कहं च न पबंधेज्जा चिट्ठित्ता ण व संजए ॥ १ ॥ " इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति, तच्चेदं—

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे अ तवे रयं । गणिमागमसंपन्नं, उज्जाणम्मि समोसढं ॥ २१० ॥
रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिआ। पुच्छंति निहुअप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो ? ॥२११॥
तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूअसुहावहो । सिक्खाए सुसमाउत्तो, आयक्खइ विअक्खणो ॥२१२॥
हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाणं सुणेह मे । आयारगोअरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठिअं ॥ २१३ ॥
नन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं । विउलट्ठाणभाइस्स, न भूअं न भविस्सइ ॥ २१४ ॥

नाणदंसणसंपन्नमित्यादि, ज्ञानदर्शनसंपन्नं ज्ञानं-श्रुतज्ञानादि दर्शनं-क्षायोपशमिकादि ताभ्यां संपन्नं-युक्तं संयमे-पञ्चाश्रवविरमणादौ तपसि च-अनशनादौ रतं-आसक्तं, गणोऽस्यास्तीति गणी तं गणिनं-आचार्य, आगमसंपन्नं-विशिष्टश्रुतधरं, बह्वागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्। उद्याने-क्वचित्साधुप्रायोग्ये समवसृतं-स्थितं धर्मदेशनार्थं वा प्रवृत्तमिति ॥ २१० ॥ तत्किमित्याह-रायाणोत्ति, राजानः-नरपतयः, राजामात्याश्च-मन्त्रिणः, ब्राह्मणाः प्रतीताः,

अनुवर्त्ति तथा क्षत्रियाः श्रेष्ठ्यादयः पृच्छन्ति निभृतात्मानः—असम्भ्रान्ता रचिताञ्जलयः, कथं भे—भवतामाचारगोचरः—क्रियाकलापः स्थित इति ॥ २११ ॥ तेसिंति, तेभ्यो राजादिभ्यः, असौ गणी निभृतोऽसम्भ्रान्तः उचितधर्मकायस्थित्या दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्यां सर्वभूतसुखावहः—सर्वप्राणिहित इत्यर्थः। शिक्षया—ग्रहणासेवनारूपया, सुसमायुक्तः—सुष्ठु—एकीभावेन युक्तः, आख्याति—कथयति विचक्षणः—पण्डित इति॥ २१२॥ हंदि धम्मत्थ, इन्दीत्युपप्रदर्शने, तमेनं धम्मार्थकामानामिति, धर्मः—चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थः—प्रयोजनं मोक्षस्तं कामयन्ति—इच्छन्तीति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामा—मुमुक्षवस्तेषां निर्ग्रन्थानां—बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितानां शृणुत मम समीपात्, आचारगोचरं—क्रियाकलापं भीमं—कर्मशत्र्वपेक्षया रौद्रं सकलं—संपूर्णं दुरधिष्ठं(ष्ठितं)—क्षुद्रसत्त्वैर्दुराश्रयमिति॥ २१३ ॥ इहानन्तरसूत्रे निर्ग्रन्थानामाचारगोचरकथनोपन्यासः कृतः, साम्प्रतमस्यैवार्थतो गुरुतामाह—नन्नत्थत्ति, न अन्यत्र—कपिलादिमते ईदृशं उक्तमाचारगोचर वस्तु यल्लोके—प्राणिलोके परमदुश्चरं—अत्यन्तदुष्करमित्यर्थः। ईदृशं च विपुलस्थानभाजिनः—विपुलस्थानं—विपुलमोक्षहेतुत्वात् संयमस्थानं तद्भजते—सेवते तच्छीलश्च यः तस्य, न भूतं न भविष्यतीति अन्यत्र जिनमतादिति ॥ २१४ ॥

सखुड्डगविअत्ताणं, वाहिआणं च जे गुणा। अखंडफुडिआ कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ॥२१५॥

दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झइ। तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताउ भस्सइ ॥ २१६ ॥

एतदेव संभावयन्नाह—सखुड्डगत्ति, सह क्षुल्लकैः—द्रव्यभावबालैर्ये वर्त्तन्ते ते व्यक्ता—द्रव्यभाववृद्धास्तेषां सक्षुल्लक-

व्यक्तानां, सबालवृद्धानामित्यर्थः, व्याधिमतां चशब्दादव्याधिमतां च, सरुजानां नीरुजानां चेतिमावः। जे ये गुणा वक्ष्य-
माणलक्षणास्तेऽखण्डास्फुटिताः कर्त्तव्याः, अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन अस्फुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन, तत्
श्रृणुत यथा कर्त्तव्यास्तथेति ॥ २१५॥ ते चागुणपरिहारेणाखण्डास्फुटिता भवन्तीत्यगुणास्तावदुच्यन्ते–दसेत्ति–दशाष्टौ च
स्थानानि–असंयमस्थानानि वक्ष्यमाणलक्षणानि यान्याश्रित्य बालः–अज्ञोऽपराध्यति तत्सेवनयाऽपराधमाप्नोति । कथम-
पराध्यतीत्याह–तत्रान्यतरे स्थाने वर्त्तमानः प्रमादेन निर्ग्रंथत्वात्–निर्ग्रन्थभावाद् भ्रश्यति निश्चयनयेनापैति बाल
इति ॥ २१६ ॥

कानि पुनस्तानि स्थानानि ? इत्याह–"वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं। पलियंकनिसज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं॥"
(दश० नि० २७०) ॥ वयछक्कन्ति, व्रतषट्कं–प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि रात्रिभोजनविरतिषष्ठानि षड्व्रतानि, कायषट्कं–
पृथिव्यादयः षड्जीवनिकायाः, अकल्पः–शिक्षकस्थापनाकल्पादिर्वक्ष्यमाणः, गृहिभाजनं–गृहस्थभाजनं गृहस्थसम्बन्धि
कांस्यभाजनादि प्रतीतं, पर्यङ्कः–शयनीयकविशेषः प्रतीतः, निषद्या च–गृहे एकानेकरूपा, स्नानं–देशसर्वभेदभिन्नं,
शोभावर्जनं–विभूषापरित्यागः, वर्जनमिति च प्रत्येकमभिसम्बध्यते शोभावर्जनं स्नानवर्जनमित्यादीति ॥ २७० ॥

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसिअं । अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥ २१७ ॥

जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा । ते जाणमजाणं वा, न हणे णोवि घायए ॥ २१८ ॥

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं । तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ २१९ ॥

गुणा अष्टादशसु स्थानेष्वखण्डास्फुटिताः कर्तव्याः, तत्र विधिमाह–तत्थिमन्ति, तत्राष्टादशविधे स्थानगणे प्रथमं स्थानं वाऽनासेवनाद्वारेणेदं–वक्ष्यमाणलक्षणं प्रथमं स्थानं महावीरेण–भगवता अपश्चिमतीर्थकरेण देशितं–कथितं, यदुताहिंसेति। इयं च सामान्यतः प्रभूतैर्देशितेत्याह–निपुणा–आधाकर्माद्यपरिभोगतः कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा, नागमद्वारेण देशिता अपि तु दृष्टा–साक्षाद्धर्मसाधन(क)त्वेनोपलब्धा, किमितीयमेव निपुणेत्याह–यतोऽस्यामेव महावीरदेशितायां सर्वभूतेषु–सर्वभूतविषयः संयमो, नान्यत्र उद्दिश्यकृतादिभोगविधानादिति ॥ २१७ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह–जावंतित्ति, यतो हि भागवत्याज्ञा–यावन्तः केचन लोके प्राणिनस्त्रसा–द्वीन्द्रियादयः, अथवा स्थावराः–पृथिव्यादयः, तान् जानन् रागाद्यभिभूतो व्यापादनबुद्ध्याऽजानन्वा प्रमादपारतन्त्र्येण न हन्यात्स्वयं नापि घातयेत् अन्यैः, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् घ्नतोऽपि अन्यांश्च समनुजानीयात् अतो निपुणा दृष्टेति ॥ २१८ ॥ अहिंसैव कथं साध्वीत्येतदाह–सव्वेत्ति, सर्वे जीवा अपि दुःखितादिभेदभिन्ना इच्छन्ति जीवितुं, न मर्तुं प्राणवल्लभत्वात्। यस्मादेवं तस्मात्प्राणवधं घोरं–रौद्रं दुःखहेतुत्वात् निर्ग्रन्थाः–साधवो वर्जयन्ति भावतः । णमिति वाक्यालङ्कारे इति ॥ २१९ ॥

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया । हिंसगं न मुसं बूआ, नो वि अन्नं वयावए ॥२२०॥
मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ । अविस्सासो अ भूआणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥२२१॥

उक्तः प्रथमस्थानविधिः, अधुना द्वितीयस्थानविधिमाह–अप्पणट्ठत्ति, आत्मार्थं–आत्मनिमित्तं अग्लान एव ग्लानोहं ममानेन कार्यमित्यादि, परार्थं वा–परनिमित्तं वा एवमेव, तथा क्रोधाद्वा त्वं दास इत्यादि, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति मानाद् वा, अबहुश्रुत एवाहं बहुश्रुत एवमादि, मायातो भिक्षाटनपरिजिहीर्षया पादपीडा ममेत्यादि, लोभात् शोभनतरान्नलाभे सति प्रान्तस्यैषणीयत्वेऽपि अनेषणीयमिदमित्यादि, यदिवा भयात्किञ्चिद्वितथं कृत्वा प्रायश्चित्तभयान्न कृतमित्यादि, एवं हासादिष्वपि वाच्यं । अत एवाह–हिंसकं–परपीडाकारि सर्वमेव न मृषा ब्रूयात् स्वयं, नाप्यन्यं वादयेत्, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् ब्रुवतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयादिति ॥ २२० ॥ किमित्येतदित्याह–मुसावाउत्ति, मृषावादो हि लोके सर्वस्मिन्नेव सर्वसाधुभिर्गर्हितो–निन्दितः, सर्वव्रतापकारित्वात्, प्रतिज्ञातापालनात् अविश्वासश्च–अविश्वसनीयश्च भूतानां मृषावादी भवति, यस्मादेवं तस्मात् मृषावादं वर्जयेदिति ॥ २२१ ॥

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं । दंतसोहणमित्तंपि, उग्गहंसि अजाइया ॥ २२२ ॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नोवि गिण्हावए परं । अन्नं वा गिण्हमाणंपि, नाणुजाणंति संजया ॥२२३॥

उक्तो द्वितीयस्थानो विधिः । साम्प्रतं तृतीयस्थानविधिमाह–चित्तमंतत्ति, चित्तवत्–द्विपदादि वा अचित्तवद्वा–हिरण्यादि, अल्पं वा–मूल्यतः प्रमाणतश्च, यदि वा बहु–मूल्यप्रमाणाभ्यामेव, किं बहुना ? दन्तशोधनमात्रमपि तथाविधं तृणादि अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा न गृह्णन्ति साधवः कदाचनेति ॥ २२२ ॥ एतदेवाह–तमिति, तच्चित्तवदादि आत्मना न गृह्णन्ति विरतत्वान्नापि ग्राहयन्ति परं विरतत्वादेव, तथाऽन्यं वा गृह्णन्तमपि स्वयमेव न अनु-

जानन्ति–नानुमन्यन्त संयता इति ॥ २२३ ॥

अबंभचरिअं घोरं, पमायं दुरहिट्ठिअं । नायरंति मुणी लोए, भेआययणवज्जिणो ॥ २२४ ॥

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं । तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ २२५ ॥

उक्तः तृतीयस्थानविधिः, चतुर्थस्थानविधिमाह–अबंभ त्ति, अब्रह्मचर्यं प्रतीतं, घोरं–रौद्रं रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्, प्रमादं–प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्, दुरधिष्ठितं–दुराश्रयं दुस्सेवं विदितजिनवचनेनानन्तसंसारहेतुत्वात्, यतश्चैवमतो नाचरन्ति–नासेवन्ते मुनयो लोके–मनुष्यलोके किं विशिष्टा? इत्याह–भेदायतनवर्जिनः–भेदः–चारित्रभेदः तदायतनं–तत्स्थानमिदमेवोक्तन्यायात्तद्वर्जिनः चारित्रातिचारभीरव इति ॥ २२४ ॥ एतदेव निगमयति–मूलमेयंति, मूलं–बीजमेतदधर्मस्य पापस्येति पारलौकिकोऽपायः। महादोषसमुच्छ्रयं-महतां दोषाणां चौर्यप्रवृत्त्यादीनां समुच्छ्रयं-सङ्घातवदिति ऐहिकोऽपायः । यस्मादेवं तस्मान्मैथुनसंसर्गं इति प्राकृतत्वात् मैथुनसंसर्गं–मैथुनसम्बन्धं योषिदालापाद्यपि निर्ग्रन्था वर्जयन्ति, णमिति वाक्यालङ्कार इति ॥ २२५ ॥

विडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणिअं । न ते संनिहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया ॥ २२६ ॥

लोहस्सेस अणुप्फासे, मन्ने अन्नयरामवि । जे सिआ सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥ २२७ ॥

जंपि वत्थं वा पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । तंपि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति अ ॥ २२८ ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा। मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा ॥ २२९ ॥
सव्वत्थुवाहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे । अविअप्पणोऽवि देहंमि, नायरंति ममाइयं ॥ २३० ॥

प्रतिपादितश्चतुर्थस्थानविधिः, इदानीं पञ्चमस्थानविधिमाह–बिडमुक्ति, बिडं–गोमूत्रादिपक्वं, उद्भेद्यं–सामुद्रादि यद्वा बिडं–प्रासुकं उद्भेद्यमप्रासुकमपि, एवं द्विप्रकारं लवणं, तथा तैलं सर्पिश्च फाणितं, तत्र तैलं प्रतीतं, सर्पिः–घृतं, फाणितं–द्रवगुडः, एतल्लवणादि एवं प्रकारमन्यच्च न ते साधवः संनिधिमिच्छन्ति–पर्युषितं स्थापयन्ति, ज्ञातपुत्रवचोरताः–भगवद्वर्द्धमानवचसि निस्सङ्गताप्रतिपादनपरे रताः–सक्ता इति ॥ २२६ ॥ संनिधिदोषमाह–लोहस्सेत्ति, लोभस्य–चारित्रविघ्नकारिणश्चतुर्थकषायस्यैषोऽनुस्पर्शः–एषोऽनुभावो यदुत एतत् सन्निधिकरणमिति, यतश्चैवमतो[ऽहं]–मन्ये मन्यन्ते प्राकृतशैल्या एकवचनं, एवमाहुः तीर्थकरगणधराः, अन्यतरामपि–स्तोकामपि यः स्यात्, यः कदाचित्सन्निधिं कामयते–सेवते गृहीति–गृहस्थोऽसौ भावतः प्रव्रजितो नेति, दुर्गतिनिमित्तानुष्ठानप्रवृत्तेः, सन्निधीयते नरकादिष्वात्माऽनयेति, सन्निधिरिति शब्दार्थात् प्रव्रजितस्य च दुर्गतिगमनाभावादिति ॥ २२७ ॥ आह–यद्येवं वस्त्रादि धारयतां कथं साधुनामसन्निधिरित्यत्राह–जंपित्ति, यदप्यागमोक्तं, वस्त्रं वा–चोलपट्टकादि, पात्रं वा–अलाबुकादि, कम्बलं–वर्षाकल्पादि, पादपुञ्छनं–रजोहरणं, तदपि संयमलज्जार्थमिति, संयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्रं, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्तेः, अथवा संयम एव लज्जा संयमलज्जा तदर्थं सर्वमेतद्वस्त्रादि धारयन्ति, यथालम्भनविधानेन परिहरंति च–परिभुञ्जते च मूर्च्छारहिता इति ॥ २२८ ॥

यतश्चैवमतः-न सोत्ति, नासौ निरभिष्वङ्गस्य वस्त्रधारणादिलक्षणः परिग्रह उक्तो बन्धहेतुत्वाभावात्, केन ?, ज्ञात-पुत्रेण-ज्ञात-उदारक्षत्रियः सिद्धार्थस्तत्पुत्रेण वर्धमानेन, त्रायी-स्वपरपरित्राणसमर्थेन, अपि तु मूर्च्छा-ममत्वमपि वस्त्रादिष्वभिष्वङ्गः परिग्रह उक्तो बन्धहेतुत्वात्, अर्थतस्तीर्थकरेण, ततोऽवधार्य इत्येवमुक्तो महर्षिणा-गणधरेण सूत्रे शय्यंभवेनेति ॥ २२९ ॥ आह-वस्त्राद्यभावभाविन्यपि मूर्च्छा कथं वस्त्रादिमात्रे साधूनां न भविष्यति ?, उच्यते, सम्यग्बोधेन तद्बीजभूताबोधोपघातात्, आह च-सव्वत्थत्ति, सर्वत्र-उचिते क्षेत्रे काले च उपधिनाऽऽगमोक्तेन वस्त्रादिना सहापि बुद्धा-यथावद्विदितवस्तुतत्त्वाः साधवः, संरक्षणपरिग्रह इति-संरक्षणाय षण्णां जीवनिकायानां वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योगः। किंचानेन ?, ते हि भगवन्तः, अप्यात्मनोऽपि देह इति-आत्मनो धर्मकायेऽपि विशिष्टप्रति-बन्धसंगतिं न कुर्वन्ति, ममत्वमात्मीयाभिमानं वस्तुतत्त्वावबोधात्, तिष्ठतु तावदन्यत्, नवम देहवद्वापरिग्रह एवेति ॥२३०॥

अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णिअं। जाव लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोअणं ॥ २३१ ॥

संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा। जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणिअं चरे ? ॥ २३२ ॥

उदउल्लं बीअसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं। दिआ ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ? ॥ २३३ ॥

एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअं। सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोअणं ॥ २३४ ॥

उक्तः पञ्चमस्थानविधिः, अधुना षष्ठमधिकृत्याह-अहोत्ति, अहो नित्यं तपःकर्मेति, अहो-विस्मये नित्यं नाम-

अपायाभावेन तदन्यगुणवृद्धिसम्भवादप्रतिपात्येव तपःकर्म्म-तपोऽनुष्ठानं, सर्वबुद्धैः-सर्वतीर्थकरैर्वर्णितं-देशितं, किंविशिष्ट-
मित्याह-यावल्लज्जासमा वृत्तिः-लज्जा-संयमः तत्समा-सदृशी तुल्या संयमाविरोधिनीत्यर्थः, वर्त्तनं वृत्तिः-देहपालना,
एकभक्तं च भोजनं-एकं भक्तं द्रव्यतो भावतश्च यस्मिन् भोजने तत्तथा, द्रव्यत एकं-एकसंख्यानुगं, भावत एकं-
कर्मबन्धाभावादद्वितीयं, तद्दिवस एव रागादिरहितस्यान्यथा भावतः एकत्वाभावादिति ॥ २३१ ॥ रात्रिभोजने प्राणाति-
पातसम्भवेन कर्मबन्धसद्वितीयतां दर्शयति-संति मेत्ति, सन्त्येते-प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपाः सूक्ष्माः-श्लक्ष्णाः, प्राणिनो-
जीवास्त्रसा-द्वीन्द्रियादयः, अथवा स्थावराः-पृथिव्यादयो यान् प्राणिनो रात्रावपश्यन् चक्षुषा कथमेषणीयं-सत्त्वानु-
परोधेन चरिष्यति-भोक्ष्यते च, असम्भव एव रात्रावेषणीयचरणस्येति ॥ २३२ ॥ एवं रात्रिभोजने दोषमभिधायाधुना ग्रहण-
गतमाह-उदउल्लंति, उदकार्द्रं-पूर्ववदेकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् सस्निग्धादिपरिग्रहः । तथा बीजसंसक्तं-बीजैः संसक्तं-
मिश्रमोदनादीति गम्यते । अथवा बीजानि पृथग्भूतान्येव संसक्तं चारनालाद्यपरेणेति । तथा प्राणिनः संपातिमप्रभृतयो
निपतिता मह्यां-पृथिव्यां सम्भवन्ति । ननु दिवाप्येतत्सम्भवत्येव ?, सत्यं, किंतु परलोकभीरुश्चक्षुषा पश्यन् दिवा तान्युद-
कार्द्रादीनि विवर्जयेत्, रात्रौ तु तत्र कथं चरेत् संयमानुपरोधेन ? असम्भव एव शुद्धचरणस्येति ॥२३३॥ उपसंहरन्नाह-एयं
चत्ति, एतदनन्तरोदितं प्राणिहिंसारूपं चशब्दादन्यं चात्मविराधनादिलक्षणं च दोषं दृष्ट्वा मतिचक्षुषा ज्ञातपुत्रेण भगवता
भाषितं-उक्तं, सर्वाहारं-चतुर्विधमप्यशनादिलक्षणमाश्रित्य न भुञ्जन्ते निर्ग्रन्थाः-साधवो रात्रिभोजनमिति ॥२३४॥

पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा । तिविहेणं करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ॥२३५॥

पुढविकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए। तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥२३६॥
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं। पुढविकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ २३७ ॥
आउकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा। तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिआ ॥२३८॥
आउकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए। तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥२३९॥
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं। आउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ २४० ॥

उक्तं व्रतषट्कं, अधुना कायषट्कमुच्यते, तत्र पृथिवीकायमधिकृत्याह-पुढवित्ति, पृथिवीकायं न हिंसन्त्यालेखनादिना प्रकारेण मनसा वाचा कायेन, उपलक्षणमेतदत एवाह-त्रिविधेन करणयोगेन-मनःप्रभृतिभिः करणादिरूपेण, के न हिंसन्तीत्याह-संयताः-साधवः, सुसमाहिता-उद्युक्ता इति ॥ २३५ ॥ अत्रैव हिंसादोषमाह-पुढवित्ति, पृथिवीकायं हिंसन्नालेखा(खना)दिना प्रकारेण हिनस्त्येव तुरवधारणार्थो व्यापादयत्येव तदाश्रितान्-पृथिव्याद्याश्रितान् त्रसांश्च विविधान् प्राणिनो-द्वीन्द्रियादीन् चशब्दात् स्थावरांश्चाप्कायादीन्, तांश्च चाक्षुषानचाक्षुषांश्च-चक्षुरिन्द्रियग्राह्यानग्राह्यांश्चेति ॥ २३६ ॥ यस्मादेवं तम्हत्ति, तस्मादेवं विज्ञाय दोषं तत्तदाश्रितजीवहिंसादिलक्षणं दुर्गतिवर्धनं-संसारवर्धनं पृथिवीकायसमारम्भमालेखनादि यावज्जीवमेव वर्जयेदिति ॥ २३७ ॥ उक्तः सप्तमस्थानविधिः, अधुनाऽष्टमस्थानविधिमधिकृत्योच्यते-आउकायंतीत्यादि, सूत्रत्रयमप्कायाभिलापेन ज्ञेयं ततश्चायमप्युक्त एव ॥ २३८-२४० ॥

तिक्खमन्नयरं सत्थं, सवओवि दुरासयं ॥ २४१ ॥
जायतेअं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए । अहे दाहिणओ वावि, दहे उत्तरओवि अ ॥ २४२ ॥
पाईणं पडिणं वावि, उड्ढं अणुदिसामवि । तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥ २४३ ॥
भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ । तेउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ २४४ ॥
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।

जाततेजाः–अग्निः तं जाततेजसं नेच्छन्ति, मनःप्रभृतिभिरपि पापकं–
साम्प्रतं नवमस्थानविधिमाह–जायतेयंति–जाततेजाः–अग्निः तं जाततेजसं नेच्छन्ति, मनःप्रभृतिभिरपि पापकं–पाप एव पापकस्तं, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभमित्यर्थः । किं नेच्छन्तीत्याह–ज्वालयितुं–उत्पादयितुं वृद्धिं वा नेतुं, किंविशिष्टमित्याह–तीक्ष्णं–छेदकरणात्मकं, अन्यतरशस्त्रं–सर्वशस्त्रं, एकधारादिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भावः । अत एव सर्वतोऽपि दुराश्रयं सर्वतोधारत्वेनानाश्रणीयमिति ॥ २४१ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह–पाईणंति, प्राच्यां प्रतीच्यां वापि–पूर्वायां पश्चिमायां चेत्यर्थः। ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि "सुपां सुपो भवन्ती"ति, सप्तम्यर्थेष छी, विदिक्ष्वपीत्यर्थः, । अधो दक्षिणतश्चापि दहति–दाह्यं भस्मीकरोति, उत्तरतोऽपि च, सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दहतीति ॥ २४२ ॥ यतश्चैवमतः भूयाणंति, भूतानां–स्थावरादीनां एप आघातः आघातहेतुत्वादाघातः, हव्यवाहः–अग्निः न संशय इत्येवमेवैतद् आघात एवेतिभावः । येनैवं तेन तं हव्यवाहं प्रदीपप्रतापनार्थं–आलोकशीतापनोदार्थं संयताः–साधवः किञ्चित्सङ्घट्टनादिनाऽपि नारभन्ते, संयतत्वापगमनप्रसङ्गादिति ॥ २४३ ॥ यस्मादेवं तम्हत्ति व्याख्या पूर्ववत् ॥ २४४ ॥

अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं । सावज्जबहुलं चेअं, नेअं ताईहि सेविअं ॥ २४५ ॥
तालिअंटेण पत्तेण, साहाविहुअणेण वा । न ते वीइउमिच्छंति, वेआवेऊण वा परं ॥ २४६ ॥
जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । न ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति अ ॥ २४७ ॥
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । वाउकायसमारंभं, जावज्जीवाइ वज्जए ॥ २४८ ॥

उक्तो नवमस्थानविधिः, साम्प्रतं दशममाश्रित्याह—अणिलस्स-अनिलस्य-वायोः समारम्भं-तालवृन्तादिभिः करणं बुद्धाः-तीर्थकरा मन्यन्ते-जानन्ति तादृशं-जाततेजःसमारम्भसदृशं, सावद्यबहुलं-पापभूयिष्ठं चेतमितिकृत्वा सर्वकालमेव नैनं त्रातृभिः-सुसाधुभिः सेवितं-आचरितं, मन्यन्ते बुद्धा एवेति ॥ २४५ ॥ एतदेव स्पष्टयति-तालिय- टेणंति, तालवृन्तेन पत्रेण शाखाविधूननेन वेत्यमीषां स्वरूपं यथा षड्जीवनिकायिकायां, न ते साधवो वीजितु- मिच्छन्त्यात्मानमात्मना, नापि वीजयन्ति परैरात्मानं तालवृन्तादिभिरेव, नापि वीजयन्तं परमनुमन्यन्त इति ॥ २४६ ॥ उपकरणात्तद्विराधनेत्येतत्परिहारमाह-जंपित्ति, यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनममीषां स्वरूपं पूर्वोक्तं धर्मोपकरणं यत्तेनापि न ते वातमुदीरयन्त्ययतप्रत्युपेक्षणादिक्रियया, किंतु यतं परिहरन्ति, परिभोग- परिहारेण धारणाया परिहारेण चेति ॥ २४७ ॥ यत एवायं सुसाधुवर्जितोऽनिलसमारम्भः, तम्हत्ति पूर्ववत् ॥ २४८ ॥

वणस्सइं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा । तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ॥२४९॥

वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसई अ तयस्सिए । तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ २५० ॥
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । वणस्सइसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ २५१ ॥
तसकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा । तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ॥२५२॥
तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए । तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ २५३ ॥
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । तसकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ २५४ ॥

उक्तो दशमस्थानविधिः, इदानीं एकादशमाश्रित्योच्यत इति । वणस्सइं इत्यादि सूत्रत्रयं वनस्पत्यभिलापेन ज्ञेयं, ततश्चायमप्युक्त एव ॥ २४९-२५१ ॥ द्वादशस्थानविधिरुच्यते-तसकायमिति, त्रसकायं-द्वीन्द्रियादिरूपं न हिंसन्त्या-रम्भप्रवृत्त्यादिना प्रकारेण, मनसा वाचा कायेन-तदहितचिन्तनादिना, त्रिविधेन करणयोगेन-मनःप्रभृतिभिः कणादिना प्रकारेण, संयताः-साधवः, सुसमाहिता-उद्युक्ता इति ॥ २५२ ॥ तत्रैव हिंसादिदोषमाह—त्रसकायं विहिंसन्नारम्भप्रवृत्त्यादिना प्रकारेण हिनस्त्येव तुरवधारणार्थे व्यापादयत्येव तदाश्रितान्-त्रसाश्रितान् त्रसांश्च विविधान् प्राणिनस्तदन्यद्वीन्द्रियादीन्, चशब्दात् स्थावरांश्च पृथिव्यादीन्, चाक्षुषानचाक्षुषांश्च-चक्षुरिन्द्रियग्राह्यान-ग्राह्यांश्चेति सूत्रार्थः ॥ २५३ ॥ यस्मादेवं तम्हत्ति, तस्मादेतं विज्ञाय दोषं-तदाश्रितजीवहिंसालक्षणं दुर्गतिवर्धनं-संसारवर्धनं त्रसकायसमारम्भं तेन तेन विधिना यावज्जीवमेव वर्जयेदिति ॥ २५४ ॥

जाणि(इं) चत्तारि अभुज्जाइं, इसिणाऽऽहारमाइणि । ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥२५५॥
पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य । अकप्पिअं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥२५६॥
जे निआगं ममायंति, कीअमुद्देसिआहडं । वहं ते समणुजाणंति, इअ उत्तं महेसिणा ॥ २५७ ॥
तम्हा असणपाणाइं, कीअमुद्देसिआहडं । वज्जयंति ठिअप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो ॥ २५८ ॥

उक्तो द्वादशस्थानविधिः, प्रतिपादितं कायषट्कम्, एतत्प्रतिपादनादुक्ता मूलगुणाः, अधुनैतद्वृत्तिभूतोत्तरगुणावसरः, ते चाकल्पादयः षडुत्तरगुणाः, यथोक्तं-"अकप्पो गिहिभायणं"ति, तत्राकल्पो द्विविधः-शिक्षकस्थापनाकल्पः अकल्पस्थापनाकल्पश्च । तत्र शिक्षकस्थापनाकल्पोऽनधीतपिण्डनिर्युक्त्यादिनाऽऽनीतमप्याहारादि न कल्पत इति, उक्तं च-"अणहीया खलु जेणं पिंडेसणसेज्जवत्थपाएसा । तेणाणियाणि जइणो कप्पंति न पिंडमाईणि ॥ १ ॥ उउबद्धंमि ण अणला वासावासे उ दोवि णो सेहा । दिक्खिज्जंती पायं ठवणाकप्पो इमो होइ ॥ २ ॥" अकल्पस्थापनाकल्पं त्वाह-जाणित्ति, यानि चत्वारि अभोज्यानि-संयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि, ऋषीणां-साधूनामाहारादीन्याहारशय्यावस्त्रपात्राणि तानि तु विधिना विवर्जयन् संयमं-सप्तदशप्रकारं अनुपालयेत् तदत्यागे संयमाभावादिति ॥ २५५ ॥ एतदेव स्पष्टयति-पिंडंति, पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च चतुर्थं पात्रमेव च, एतत्स्वरूपं प्रकटार्थं, अकल्पिकं नेच्छेत्प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकं-यथोचितमिति ॥ २५६ ॥ अकल्पिके दोषमाह-जेत्ति, ये केचन द्रव्यसाध्वादयो द्रव्यलिङ्गधारिणो नियागंति नित्यमामन्त्रितपिण्डं

ममायंतीति परिगृह्णन्ति, तथा क्रीतमौद्देशिकाहृतमेतानि यथा क्षुल्लकाचारकथायाम्। वधं—त्रसस्थावरादिघातं ते—द्रव्यसाध्वादयः समनुजानन्ति दातृप्रवृत्त्यनुमोदनेनेत्युक्तं महर्षिणा—वर्द्धमानेनेति ॥ २५७ ॥ यस्मादेवं तम्हत्ति, तस्मादशनपानादि चतुर्विधमपि यथोदितं क्रीतमौद्देशिकमाहृतं वर्जयन्ति स्थितात्मानो—महासत्त्वाः निर्ग्रन्थाः—साधवो धर्मजीविनः—संयमैकजीविन इति ॥ २५८ ॥

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो। भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥ २५९ ॥

सीओदगसमारंभे, मत्तधोअणछड्डणे। जाइं छिप्पंति भूआइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ २६० ॥

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिआ तत्थ न कप्पइ। एणमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥ २६१ ॥

उक्तोऽकल्पस्तदभिधानात् त्रयोदशस्थानविधिः, इदानीं चतुर्दशस्थानविधिमाह—कंसेत्ति, कांसेषु—करोटकादिषु, कांस्य-पात्रेषु—तिलकादिषु, कुण्डमोदेषु—हस्तिपादाकारेषु मृन्मयादिषु, भुञ्जानोऽशनपानादि तदन्यदोषरहितमपि, आचारात्—श्रमणसम्बन्धिनः, परिभ्रश्यति—अपैतीति ॥ २५९ ॥ कथमित्याह—सीओदगत्ति, अनन्तरोदिष्टभाजनेषु श्रमणा भोक्ष्यन्ते इति तत्मात्रक-भुक्तं वैभिरिति शीतोदकेन धावनं कुर्वन्ति। तदाह—शीतोदकसमारम्भे—सचेतनोदकेन भाजनधावनारम्भे तत्मात्रक-धावनोज्झने—कुण्डमोदादिषु क्षालनजलत्यागे यानि क्षण्यन्ते—हिंस्यन्ते भूतानि—अप्कायादीनि, सोऽत्र—गृहिभाजनभोजने दृष्टः—उपलब्धः, केवलज्ञानभास्वता असंयमस्तस्य भोक्तुरिति ॥ २६० ॥ किंच पच्छाकम्मंति, पश्चात्कर्म पुरःकर्म

स्यात्तत्र–कदाचिद् भवेद् गृहिभाजनभोजने, पश्चात्कर्मपुरःकर्मभावस्तूक्तवदित्येके । अन्ये तु भुञ्जन्तु तावत्साधवो वयं तु पश्चाद्भोक्ष्यामहे इति पश्चात्कर्म, व्यत्ययेन तु पुरःकर्मेति व्याचक्षते । एतच्च न कल्पते धर्मचारिणां, यत एवमेतदर्थं–पश्चात्कर्मादिपरिहारार्थं न भुञ्जन्ते निर्ग्रन्थाः, केत्याह–गृहिभाजने यनन्तरोदित इति ॥ २६१ ॥

आसंदीपलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा । अणायरिअमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥ २६२ ॥

नासंदीपलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए । निग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥ २६३ ॥

गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा । आसंदी पलिअंको अ, एअमट्ठं विवज्जिआ ॥ २६४ ॥

उक्तो गृहिभाजनदोषस्तदभिधानाच्चतुर्दशस्थानविधिः, इदानीं पञ्चदशस्थानविधिमाह–आसंदीति, आसन्दीपर्यङ्कौ प्रतीतौ तयोरासन्दीपर्यङ्कयोः, मञ्चाशालकयोश्च मञ्चः प्रतीतः, आशालकस्तु–अवष्टम्भसमन्वित आसनविशेषः, एतयोरनाचरितमनासेवितमार्याणां–साधूनामासितुं–उपवेष्टुं स्वप्तुं वा–निद्राविवाहनं वा कर्तुं, शुषिरादिदोषादिति ॥ २६२ ॥ अत्रैवापवादमाह–नासन्दीति, नासन्दीपर्यङ्कयोः प्रतीतयोर्न निषद्यायां–एकादिकल्परूपायां, न पीठके–वेत्रकाष्ठमयादौ निर्ग्रन्थाः–साधवः, अप्रत्युपेक्ष्य–चक्षुरादिना न निषीदनादि कुर्वन्ति इति वाक्यशेषः, नञ्सर्वत्राभिसम्बध्यते, न कुर्वन्तीति, किंविशिष्टा निर्ग्रन्थाः ?, इत्याह–बुद्धोक्ताधिष्ठातारः–तीर्थकरोक्तानुष्ठानपरा इत्यर्थः, इह चाप्रत्युपेक्षितासन्द्यादौ निषीदनादिनिषेधात् धर्मकथादौ राजकुलादिषु प्रत्युपेक्षितेषु निषीदनादिविधिमाह विशेषणान्यथानुपपत्तेरिति ॥ २६३ ॥ अत्रैव

दोषमाह-गंभीरत्ति, गम्भीरविजया, गम्भीरं-अप्रकाशं, विजयः-आश्रयः अप्रकाशाश्रया, एते-प्राणिनामासन्द्यादयः, एवं च प्राणिनो दुष्प्रत्युपेक्षणीया एतेषु भवन्ति, पीड्यन्ते च एतदुपवेशनादिना, आसन्दः पर्यङ्कश्च, चशब्दात् मञ्चादयश्चैतदर्थं विवर्जिताः साधुभिरिति ॥ २६४ ॥

गोअग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ। इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अबोहियं ॥ २६५ ॥
विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो। वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥ २६६ ॥
अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणं। कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ २६७ ॥
तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पई। जराए अभिभूअस्स, वाहिअस्स तवस्सिणो ॥ २६८ ॥

उक्तः पर्यङ्कस्थानविधिः, तदभिधानात्पञ्चदशस्थानम्, इदानीं षोडशस्थानमधिकृत्याह-गोअरग्गत्ति, गोचराग्रप्रविष्टस्य-भिक्षाप्रविष्टस्येत्यर्थः, निषद्या यस्य कल्पते, गृह एव निषीदनं यः समाचरति साधुरितिभावः, स खलु एनमीदृशं वक्ष्यमाणलक्षणं अनाचारमापद्यते-प्राप्नोति, अबोधिकं-मिथ्यात्वफलमिति ॥ २६५ ॥ अनाचारमाह-विवत्तित्ति, विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य-आज्ञाखण्डनादोषतः साधुसमाचरणस्य, प्राणिनां च वधे वधो भवति, तथा सम्बन्धादाधाकर्मादिकरणेन, वनीपकप्रतीघातस्तदाक्षेपणादित्साभिधानादिना, प्रतिक्रोधश्चागारिणां तत्स्वजनानां च स्यात् तदाऽऽक्षेपदर्शनेनेति ॥ २६६ ॥ तथा अगुत्तित्ति, अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य तदिन्द्रियाद्यवलोकनेन, स्त्रीतश्चापि शङ्का भवति एतत्प्रफु-

ह्लोचनदर्शनादिना अनुभूतगुणायाः, कुशीलवर्धनं स्थानं-तदुक्तेन प्रकारेणासंयमवृद्धिकारकं, दूरतः परिवर्जयेत्-परित्यजेदिति ॥ २६७॥ सूत्रेणैवापवादमाह-तिण्हमिति, त्रयाणां वक्ष्यमाणलक्षणानां अन्यतरस्य एकस्य निषद्या गोचरप्रविष्टस्य गृहे यस्य कल्पते औचित्येन, तस्य तदासेवने न दोष इति वाक्यशेषः, कस्य पुनः कल्पत इत्याह-जरयाऽभिभूतस्यात्यन्तवृद्धस्य, व्याधिमतः-अत्यन्तमशक्तस्य, तपस्विनो-विकृष्टक्षपकस्य, एते च भिक्षाटनं न कार्यन्त एव, आत्मलब्धिकाद्यपेक्षया तु सूत्रविषयः, न चैतेषां प्राय उक्तदोषाः सम्भवन्ति, परिहरन्ति च वनीपकप्रतिघातादीति ॥ २६८॥

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए। वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥ २६९॥
संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलुगासु अ। जे अ भिक्खू सिणायंतो, विअडेणुप्पलावए ॥ २७०॥
तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा। जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥ २७१॥
सिणाणं अदुवा कक्कं, लुद्धं पउमगाणि अ। गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइवि ॥ २७२॥

उक्तो निषद्यास्थानविधिः, तदभिधानात्षोडशस्थानं, साम्प्रतं सप्तदशस्थानमाह-वाहिओ वेति, व्याधिमान्-व्याधिग्रस्तः, अरोगी वा-रोगविप्रमुक्तो वा, स्नानं-अङ्गप्रक्षालनं, यस्तु प्रार्थयते-सेवत इत्यर्थः, तेनेत्थम्भूतेन व्युत्क्रान्तो भवति आचारो-बाह्यतपोरूपः, अस्नानपरीषहानतिसहनात्, जढः-परित्यक्तो भवति, संयमः-प्राणिनां रक्षणादिकोऽप्कायादिविराधनादिति ॥ २६९॥ प्रासुकस्नानेन कथं संयमपरित्याग इत्याह-संतिमे, सन्त्येते प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपाः,

सूक्ष्माः–श्लक्ष्णाः, प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयः, घसासु–शुषिरभूमिषु, भिलुकासु च–तथाविधभूमिराजीषु च, यांस्तु भिक्षुः स्नपयन् स्नानजलोज्झनक्रियया विकृतेन–प्रासुकोदकेनोत्प्लावयति, तथा च तद्विराधनातः संयमपरित्याग इति ॥२७०॥ निगमयन्नाह–तम्हत्ति, यस्मादेवमुक्तदोषप्रसङ्गस्तस्मात्ते साधवो न स्नान्ति शीतोदकेनोष्णोदकेन वा प्रासुकेना-प्रासुकेन वेत्यर्थः। किंविशिष्टास्त इत्याह–यावज्जीवं–आजन्म, व्रतं घोरं–दुरनुचरमस्नानमाश्रित्य अधिष्ठातारः–अस्यैव कर्तार इति ॥ २७१ ॥ किं च–सिणाणन्ति, स्नानं पूर्वोक्तं, अथवा कल्कं–चन्दनादि, लोध्रं–गन्धद्रव्यं, पद्मकानि च–कुङ्कुमकेसराणि, चशब्दादन्यच्चैवंविधं गात्रस्योद्वर्त्तनार्थं–उद्वर्त्तननिमित्तं नाचरन्ति कदाचिदपि–यावज्जीवमिति भावसाधव इति ॥ २७२ ॥

नगिणस्स वावि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो। मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारिअं? ॥ २७३ ॥
विभूसावत्तिअं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं। संसारसागरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ २७४ ॥
विभूसावत्तिअं चेअं, बुद्धा मन्नंति तारिसं। सावज्जबहुलं चेअं, नेयं ताईहिं सेविअं ॥ २७५ ॥

उक्तोऽस्नानविधिः, तदभिधानात्सप्तदशं स्थानं, साम्प्रतमष्टादशं शोभावर्जनास्थानमुच्यते–शोभायां नास्ति दोषः, "अलङ्कृतश्चापि धर्ममाचरेदि"त्यादिवचनात् पराभिप्रायमात्रमाशङ्क्याह–नगिणस्ति–नग्नस्यापि–कुचेलवतोऽपि उपचार-नग्नस्य निरुपचरितस्य नग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यविषयमेव सूत्रं, मुण्डस्य–द्रव्यभावाभ्यां, दीर्घरोमनखवतः–

दीर्घरोमवतः कक्षादिषु, दीर्घनखवतो हस्तादौ जिनकल्पिकस्य, इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता एव नखा भवन्ति यथाऽन्यसाधूनां शरीरेषु तमस्यपि न लगन्ति। मैथुनादुपशान्तस्योपरतस्य किं विभूषया-राढया प्रयोजनं (कार्यं)?, न किञ्चिदिति ॥ २७३ ॥ इत्थं प्रयोजनाभावमभिधायापायमाह-विभूसत्ति, विभूषाप्रत्ययं-विभूषानिमित्तं भिक्षुः-साधुः कर्म बध्नाति चिक्कणं-दारुणं संसारसागरे घोरे-रौद्रे येन कर्मणा पतति दुरुत्तरे-अकुशलानुबंधतोऽत्यन्तदीर्घ इति ॥ २७४ ॥ एवं बाह्यविभूषापायमभिधाय सङ्कल्पविभूषापायमाह-विभूसावत्ति, विभूषाप्रत्ययं-विभूषानिमित्तं चेत एवं च यदि मम विभूषा सम्पद्यत इति, तत्प्रवृत्यङ्गं चित्तमित्यर्थः, बुद्धाः—तीर्थकरा मन्यन्ते-जानन्ति तादृशं रौद्र-कर्मबन्धहेतुभूतं विभूषाक्रियामहितं (सदृशं) सावद्यबहुलं चैतदार्तध्यानानुगतं चेतः, नैतदित्थम्भूतं त्रातृभिरात्मारामैरार्यैः साधुभिः सेवितमाचरितं, कुशलचित्तत्वात्तेषामिति ॥ २७५ ॥

खवंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया संजमअज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं, नवाइं पावाइं न ते करंति ॥ २७६ ॥
सओवसंता अममा अकिंचणा, सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसन्ने विमलेव चंदिमा, सिद्धिं विमाणाइं उवेंति ताइणो ॥ २७७ ॥ त्तिबेमि।

छट्ठं धम्मत्थकामज्झयणं समत्तं ६ ॥

उक्तः शोभावर्जनस्थानविधिस्तदभिधानादष्टादशं पदं, तदभिधानाच्चोत्तरगुणाः, साम्प्रतमुक्तफलप्रदर्शनेनोपसंहरन्नाह—
खवंतिंत्ति, क्षपयन्त्यात्मानं तेन तेन चित्तयोगेनानुपशान्तं शमयोजनेन जीवं, किंविशिष्टा इत्याह—अमोहदर्शिनः—
अमोहं ये पश्यन्ति, यथावत्पश्यन्ति य इत्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते—तपसि—अनशनादिलक्षणे रताः—सक्ताः, किंविशिष्टे
तपसीत्याह—संयमार्जवगुणे प्राकृतत्वादेकारः संयमार्जवे गुणौ यस्य तपसस्तस्मिन्, संयमऋजुभावप्रधाने शुद्ध इत्यर्थः, ते
एवंभूता धुन्वन्ति—कम्पयन्ति अपनयन्ति, पापानि पुराकृतानि—जन्मान्तरोपात्तानि, नवानि—प्रत्यग्राणि पापानि न ते
साधवः कुर्वन्ति, तथा अप्रमत्तत्वादिति ॥ २७६ ॥ किं च सओवसंतन्ति, सदोपशान्ताः—सर्वकालमेव क्रोधरहिताः
अममाः—सर्वत्र ममत्वशून्याः, अकिञ्चना—हिरण्यादिमिथ्यात्वादिद्रव्यभावकिञ्चनविनिर्मुक्ताः, स्वा—आत्मीया विद्या
स्वविद्या—परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा तया स्वविद्यया विद्यया अनुगता—युक्ताः, न पुनः परविद्यया इहलोकोप-
कारिण्येति, त एव विशेष्यन्ते—यशस्विनः—शुद्धपारलौकिकयशोवन्तः, त एवंभूता ऋतौ प्रसन्ने—परिणते शरत्कालादौ
विमल इव चन्द्रमाः—चन्द्रमा इव विमलाः, इत्येवंकल्पास्ते भावमलरहिताः सिद्धिं—निर्वृत्तिं तथा सावशेषकर्माणो विमा-
नानि—सौधर्मावतंसकादीन्युपयान्ति—सामीप्येन गच्छन्ति त्रातारः—स्वपरापेक्षया साधव इति ॥२७७॥ ब्रवीमीति पूर्ववदेव ॥

दशवैकालिकश्रुतस्कन्धषष्ठाध्ययनव्याख्या समाप्तेति ॥ ६ ॥

व्याख्यातं महाचारकथाध्ययनं, इदानीं वाक्यशुद्ध्याख्यमध्ययनमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः इहानन्तराध्ययने गोचरप्रविष्टेन सता स्वाचार पृष्टेन तद्विदाऽपि न महाजनसमक्षं तत्रैव विस्तरतः कथयितव्यमिति, अपि त्वालये गुरवो वा कथयन्तीति वक्तव्यमित्येतदुक्त, इह त्वालयगतेनापि तेन गुरुणा वा वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा कथयितव्यमित्येतदुच्यत, उक्तं च—"मारूअणवज्ञाण"मिति अनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति, तच्चेदम्—

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं। दुण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ॥ २७८॥

जा अ सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा अ जा मुसा। जा अ बुद्धेहिं णाइण्णा, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥२७९॥

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं। समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥ २८० ॥

एअं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं। स भासं सच्चमोसंपि, तंपि धीरो विवज्जए ॥ २८१ ॥

चउण्हंति, चतसृणां, खलुशब्दोऽवधारणे, चतसृणामेव, नातोऽन्या भाषा विद्यत इति। भाषाणां–सत्यादीनां परिसङ्ख्याय–सर्वैः प्रकारैर्ज्ञात्वा, स्वरूपमिति वाक्यशेषः। प्रज्ञावान्–प्राज्ञो बुद्धिमान् साधुः, किमित्याह–द्वाभ्यां सत्यासत्यामृषाभ्यां, तुरवधारणे द्वाभ्यामेव आभ्यां विनयं–शुद्धप्रयोगं विनीयतेऽनेन कर्म्मेतिकृत्वा शिक्षेत–जानीयात्, द्वे–असत्यासत्यामृषे न भाषेत सर्वशः–सर्वैः प्रकारैरिति ॥ २७८ ॥ विनयमेवाह–जा य सच्चत्ति, या च सत्या पदार्थतत्त्वमङ्गीकृत्य अवक्तव्या–अनुच्चारणीया सावद्यत्वेन–अमुत्र स्थिता पल्लीरिति कौशिकभाषावत्, सत्यामृषा वा यथा–दश दारका जाता

च, वशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, या च बुद्धैः–तीर्थकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा–
इत्येवंलक्षणा, मृषा च संपूर्णैव, चशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, न तां भाषेत, नेत्थंभूतां वाचमुदाहरेत् प्रज्ञावान्–बुद्धिमान्
आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा अविधिपूर्वकं स्वरादिना प्रकारेण, न तां भाषेत, नेत्थंभूतां वाचमुदाहरेत् प्रज्ञावान्–बुद्धिमान्
साधुरिति सूत्रार्थः ॥ २७९ ॥ यथाभूता अवाच्या भाषा तथाभूतोक्ता, साम्प्रतं यथाभूता वाच्या तथाभूतामाह–असच्च-
मोसन्ति, असत्यामृषामुक्तलक्षणां, सत्यां चोक्तलक्षणामेव, इयं च सावद्यापि सकर्कशापि भवत्यत आह–असावद्यां—
अपापां, अकर्कशामतिशयोक्त्या ह्यमत्सरपूर्वां, संप्रेक्ष्य–स्वपरोपकारिणीति बुद्ध्या आलोच्यासंदिग्धां–स्पष्टामक्षेपेण प्रति-
पत्तिहेतुं, गिरं–वाचं, भाषेत–ब्रूयात्, प्रज्ञावान्–बुद्धिमान् साधुरिति ॥ २८० ॥ साम्प्रतं सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह–
एयं चत्ति, एतं चार्थमनन्तरप्रतिषिद्धं सावद्यकर्कशविषयमन्यं वा, एवंजातीयं प्राकृतशैल्या यस्तु नामयति शाश्वतं, य एव
कश्चिदर्थो नामयति–अननुगुणं करोति, शाश्वतं–मोक्षं, तमाश्रित्य स साधुः पूर्वोक्तभाषाभाषकत्वेनाधिकृतो भाषां सत्या-
मृषामपि पूर्वोक्तां, अपिशब्दात् सत्यापि या तथाभूता तामपि धीरो–बुद्धिमान् विवर्जयेत्–न ब्रूयादिति भावः । आह–
सत्यामृषाभाषाया ओघत एव प्रतिषेधात्तथाविधसत्यायाश्च सावद्यत्वेन गतार्थं सूत्रमिति, उच्यते, मोक्षपीडाकरं सूक्ष्ममप्यर्थं
अङ्गीकृत्यान्यतरभाषाभाषणमपि न कर्त्तव्यमित्यतिशयप्रदर्शनपरमेतददुष्टमेवेति ॥ २८१ ॥

वितहंपि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो। तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुणं जो मुसं वए ॥२८२॥
तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ। अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ ॥२८३॥

एवमाइ उ जा भासा, एसकालंमि संकिया । संपयाईअमट्ठे वा, तंपि धीरो विवज्जए ॥ २८४ ॥

साम्प्रत मृषाभाषासरक्षणार्थं आह–वितहंपि, वितथ–अतथ्य तथामूर्त्यपि–कथञ्चित्तत्स्वरूपमपि वस्तु, अपिशब्द–
स्य व्यवहित. सम्बन्ध', एतदुक्त भवति–पुरुषनपथ्यस्थितवनिताद्यप्यङ्गीकृत्य या गिर भाषते नरः, इय स्त्री आगच्छति
गायति चेत्यादिरूपा, तस्माद्भाषणादनन्तरभूतात्पूर्वमेवासौ वक्ता भाषणाभिसन्धिकाल स्पृष्टः पापेन–बद्धः कर्मणा,
किं पुनर्यो मृषा वक्ति ?, भूतोपघातिनीं वाच म सुतरां बाध्य(बद्ध्य)त इति ॥ २८२ ॥ तम्हत्ति, यस्माद्वितथं तथामूर्त्यपि
वस्त्वङ्गीकृत्य भाषमाणा बध्यत तस्माद्गमिष्याम एव श्व इतोऽन्यत्र, वक्ष्याम एव श्वस्तत्तदौपधनिमित्तमिति, अमुकं वा नः
कार्यं नमत्याद्वि भविष्यत्येव, अह चेद लोचादि करिष्यामि नियमेन, एष वा साधुरस्माकं विश्रामणादि करिष्यत्येवेति
॥ २८३ ॥ एवमाइ उ इति, एवमाद्या तु या भाषा, आदिशब्दात् पुस्तकं ते दास्याम्यवेत्यवमादिपरिग्रहः, एष्यत्काले–
भविष्यत्कालविषया, बहुविघ्नत्वान्मुहूर्त्तादीनां शङ्किता–किमिदमित्थमेव भविष्यत्युतान्यथेत्यनिश्चितगोचरा, तथा
साम्प्रतातीतार्थयोरपि या शङ्किता, साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एष पुरुष इति, अतीतार्थेऽप्येवमेव बलीवर्दतत्क्रियाद्यनिश्चये
तदात्र गौरस्माभिर्दृष्ट इति । याप्येवभूता भाषा शङ्किता तामपि धीरो विवर्जयेत्, तत्तथाभावनिश्चयाभावेन व्यभिचारतो
मृषात्वोपपत्तेर्विक्षितोऽगमनादौ गृहस्थमध्ये लाघवादिप्रसङ्गात्, सर्वमेव सावसर वक्तव्यमिति ॥ २८४ ॥ किं च—

अईअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए । जमट्ठं तु न जाणिज्जा, एवमेअंति नो वए ॥ २८५ ॥

अईयंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए । जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअंति नो वए ॥ २८६ ॥
अईयंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए । निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निद्दिसे ॥ २८७ ॥

अईअंमि इति, अतीते च काले तथा प्रत्युत्पन्ने-वर्त्तमाने अनागते च यमर्थं तु न जानीयात्सम्यगेव-मयमिति, तमङ्गीकृत्यैवमेतदिति न ब्रूयादिति, अयमज्ञातभाषणप्रतिषेधः ॥ २८५ ॥ तथा-अईयम्मि-अतीते च काले प्रत्युत्पन्नेऽनागते यत्रार्थे शङ्का भवेदिति तमप्यर्थमाश्रित्यैवमेतदिति न ब्रूयादिति, अयमपि विशेषतः शङ्कितभाषण-प्रतिषेधः ॥ २८६ ॥ अईयंमि, अतीते च काले प्रत्युत्पन्ने अनागते निःशङ्कितं भवेत्, यदर्थजातं तुशब्दात् अनवद्यं, तदेवमेतदिति निर्दिशेत्, अन्ये पठन्ति-स्तोकस्तोकमिति, तत्र परिमितया वाचा निर्दिशेदिति ॥ २८७ ॥

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी । सच्चावि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥ २८८ ॥
तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा । वाहिअं वावि रोगित्ति, तेणं चोरत्ति नो वए ॥ २८९ ॥
एएणऽन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ । आयारभावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥ २९० ॥
तहेव होले गोलित्ति, साणे वा वसुलित्ति अ । दमए दुहए वावि, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ २९१ ॥
अज्जिए पज्जिए वावि, अम्मो माउसिअत्ति अ । पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए णत्तुणिअत्ति अ ॥ २९२ ॥

हले हलित्ति अन्नित्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि। होले गोले वसुलित्ति, इत्थिअं नेवमालवे ॥ २९३ ॥
नामधिज्जेण णं बूआ, इत्थीगुत्तेण वा पुणो। जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥ २९४ ॥
अज्जए पज्जए वावि, बप्पो चुल्लपिउत्ति अ। माउलो भाइणिज्जत्ति, पुत्ते णत्तुणिअत्ति अ ॥ २९५ ॥
हे भो हलित्ति अन्नित्ति, भट्टे सामिअ गोमिअ। होल गोल वसुलित्ति, पुरिसं नेवमालवे ॥ २९६ ॥
नामधिज्जेण णं बूआ, पुरिसगुत्तेण वा पुणो। जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥ २९७ ॥

तहेवत्ति, तथैव, परुषा भाषा-निष्ठुरा भावस्नेहरहिता गुरुभूतोपघातिनी-महाभूतोपघातवती, यथा [भवति तथा] कश्चित्कस्यचित् कुलपुत्रत्वेन प्रतीतस्य दासमित्यभिदधतः, सर्वथा सत्यापि सा बाह्यार्थतथाभावमङ्गीकृत्य न वक्तव्या, यतो यस्या भाषायाः सकाशात्पापस्यागमः-अकुशलबन्धो भवति ॥ २८८ ॥ तहेवत्ति, तथैवेति पूर्ववत्, काणं-भिन्नाक्षं काण इति, तथा पण्डकं-नपुंसकं पण्डक इति वा, व्याधिमन्तं वापि रोगीति, स्तेनं-चौरं चौर इति नो वदेत्, अप्रीतिलज्जानाशस्थिररोगवृद्धिविराधनादिदोषप्रसङ्गादिति ॥ २८९ ॥ एएणं ति, एतेनान्येन वाऽर्थेनोक्तेन मता परो येनोपहन्यते, येन केनचित्प्रकारेण। आचारभावदोषज्ञो यतिर्न तं भाषेत प्रज्ञावान् तमर्थमिति ॥ २९० ॥ तहेव त्ति, तथैव, होले गोले इति श्वा वा वसुल इति, द्रमको दुर्भगश्चापि नैवं भाषेत प्रज्ञावान्, इह होलादिशब्दास्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादिवाचका अतस्तत्प्रतिषेध इति ॥ २९१ ॥ एवं स्त्रीपुरुषयोः सामान्येन भाषणप्रतिषेधं कृत्वा

अधुना स्त्रियमधिकृत्याह–अज्जिएत्ति, आर्यि(र्जि)के प्रार्यि(र्जि)के वापि अम्ब मातृष्वस इति च पितृष्वसः भागिनेयीति, दुहितः नप्तृ इति च, एतानि स्त्र्यामन्त्रणवचनानि वर्त्तन्ते, तत्र मातुः पितुर्वा माता आर्यिका, तस्या अपि या अन्या माता सा प्रार्यिका, शेषाभिधानानि प्रकटार्थानि एवेति सूत्रार्थः ॥ २९२ ॥ किंच–हले हलेत्ति, हले इत्येवं अन्ने इत्येवं तथा भट्टे स्वामिनि गोमिनि, तथा हले गोले वसुले इत्येतान्यपि नानादेशापेक्षया स्त्र्यामन्त्रणवचनानि गौरवकुत्सादिगर्भाणि वर्त्तन्ते, यतश्चैवमतः स्त्रियं नैवं हो(ह)लादिशब्दैरालपेदिति, दोषाश्चैवमालपनं कुर्वतः सङ्गगर्हितप्रद्वेषप्रवचनलाघवादय इति ॥ २९३ ॥ यदि नैवमालपेत् कथं तर्हि आलपेदित्याह–नामधिज्जेणन्ति, नामधेयेनेति–नाम्नैव नामधेयेनैनां ब्रूयात्, स्त्रियं कचित्कारणे, यथा देवदत्ते ! इत्येवमादि, नामास्मरणादौ गोत्रेण वा पुनर्ब्रूयात् स्त्रियं, यथा काश्यपगोत्रे ! इत्येवमादि, यथार्हं–यथायोग्यं वयोदेशैश्वर्याद्यपेक्षया अभिगृह्य–गुणदोषानालोच्यालपेल्लपेद्वा, ईषत्सकृद्वा लपनं आलपनं, लपनमतोऽन्यथा, तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रिया, अन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादि, अन्यथा च यथा न लोकोपघात इति ॥ २९४ ॥ उक्तः स्त्रियमधिकृत्यालपनप्रतिषेधो विधिश्च, साम्प्रतं पुरुषमधिकृत्याह–अज्जए पज्जएत्ति, आर्यकः प्रार्यकश्चापि बप्पचुल्लपितेति च, तथा मातुल भागिनेयेति, पुत्र नप्त इति च, इह भावार्थः स्त्रियामिव द्रष्टव्यः, नवरं चुल्लबप्पः–पितृव्योऽभिधीयत इति ॥ २९५ ॥ किंच–हे भो हलित्ति, अन्नेत्ति भट्ट स्वामिन् गोमिन् होल गोल वसुलित्ति पुरुषं नैवमालपेदित्यत्रापि भावार्थः पूर्ववदेवेति ॥ २९६ ॥ यदि नैवमालपेत्कथं तर्ह्यालपेदित्याह–नामधिज्जेणं ति पूर्ववदेव, नवरं पुरुषाभिलापेन योजना कार्येति ॥ २९७ ॥

पंचिंदिआण पाणाण, एस इत्थी अयं पुमं । जाव णं न विजाणिज्जा, ताव जाइत्ति आलवे ॥ २९८ ॥
तहेव माणुसं पसुं, पक्खिं वावि सरीसवं । थूले पमेइले वज्झे, पाइ(य)मित्ति अ नो वए ॥ २९९ ॥
परिवूढत्ति णं बूआ, बूआ उवचिअत्ति अ । संजाए पीणिए वावि, महाकायत्ति आलवे ॥ ३०० ॥
तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहगत्ति अ । वाहिमा रहजोगित्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३०१ ॥
जुवं गवित्ति णं बूआ, धेणुं रसदयत्ति अ । रहस्से महल्लए वावि, वए संवहणित्ति अ ॥ ३०२ ॥

उक्तः पुरुषमप्याश्रित्यालपनप्रतिषेधो विधिश्च, अधुना पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गत वाग्विधिमाह–पंचिंदियाणंति, पञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनां गवादीनां क्वचिद्विप्रकृष्टदेशावस्थितानामेषा स्त्री गौरयं पुमान् बलीवर्दः, यावदेतद्विशेषेण न विजानीयात् मार्गप्रश्नादौ प्रयोजने उत्पन्ने सति जातिमाश्रित्यालपेत्, अस्माद् गोरूपजातात् कियद्दूरेणेत्येवमादि, अन्यथा लिङ्गव्यत्ययसम्भवात् मृषावादापत्तिः, गोपालादीनामपि विपरिणाम इत्येवमादयो दोषा इति, आक्षेपपरिहारौ तु वृद्धविवरणादवसेयौ, तच्चेदं “जइ लिंगवच्चए दोसो ता कीस पुढवाईए नपुंसगत्तेऽवि, पुरिसित्थिनिद्देसो पयट्टइ, जहा पत्थरो मट्टिया करओ उरगा छुच्छुरो नाला धाओ धाउली अंबओ अंबिलिआ, किमिओ जलूगा मक्कोडओ कीडिया भमरओ मच्छिया इच्चेवमादि ?, आयरिओ आह–जणवयसच्चेण ववहारसच्चेण य एवं पयट्टइत्ति न इत्थ दोसो, पंचिदिएसु पुण ण एयमणीसरइ, गोपालादीणवि य बुद्धिदूषणमिति विपरिणामसंभवाओ, पुच्छियसामायारिकहणे वा गुणसंभवादिति ” ॥ २९८ ॥ किंच–

तहेवत्ति, तथैव यथैवोक्तं प्राक्, मानुष्यं-आर्यादिकं, पशुं-अजादिकं, पक्षिणं वापि-हंसादिकं, सरीसृपं-अज-
गरादिकं, स्थूलः-अत्यन्तमांसलोऽयं मनुष्यादिः, तथा प्रमेदुरः-प्रकर्षेण मेदःसम्पन्नः तथा वध्यो-व्यापादनीयः पाक्य
इति च नो वदेत्, पाक्यः-पाकप्रायोग्यः, कालप्राप्त इत्यन्ये, नो वदेत्-न ब्रूयात् तदप्रीतितद्व्यापत्त्याशङ्कादिदोष-
प्रसङ्गादिति ॥ २९९ ॥ कारणे पुनरुत्पन्ने एवं वदेदित्याह-परिवूढत्ति, परिवृद्ध इति एनं-स्थूलं मनुष्यादिं ब्रूयात् , तथा
ब्रूयादुपचित इति च, संजातः प्रीणितश्चापि सस्निग्धः महाकाय इति चालपेत् परिवृद्धं, पलोपचितं परिहरेदित्यादावविति
॥ ३०० ॥ किंच-तहेवत्ति, तथैव यथैव गावो दोह्या-दोहार्हा-दोहसमय आसां वर्त्तत इत्यर्थः, दम्या-दमनीया
गोरथका इति च, गोरथकाः कल्होडकास्तथा वाह्याः सामान्येन ये कचित्तानाश्रित्य रथयोग्या इति च नैवं भाषेत
प्रज्ञावान् साधुः, अधिकरणलाघवादिदोषादिति ॥ ३०१ ॥ प्रयोजने तु कचिदेवं भाषेतेत्याह-जुवं गवेत्ति, युवा गौरिति
दम्यो गौर्युवेति ब्रूयात्, धेनुं-गां रसदेति च ब्रूयात्, रसदा गौरिति, तथा ह्रस्वं महल्लकं वापि गोरथकं ह्रस्वं वाह्यं
महल्लकं वदेत्, संवहनमिति च रथयोग्यं संवहनं वदेत्, कचिद्दिगुपलक्षणादौ प्रयोजन इति ॥ ३०२ ॥

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ । रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३०३ ॥
अलं पासायखंभाणं, तोरणाण गिहाण अ । फलिहऽग्गलनावाणं, अलं उदगदोणिणं ॥ ३०४ ॥
पीढए चंगवेरे(रा) अ, नंगले मइयं सिआ । जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिआ व अलं सिआ ॥ ३०५ ॥

आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए । भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३०६ ॥
तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ । रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३०७ ॥
जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया । पजायसाला विडिमा, वए दरिसणित्ति अ ॥ ३०८ ॥
तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए । वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइ त्ति नो वए ॥ ३०९ ॥
असंथडा इमे अंबा, बहुनिव्वडिमाफला । वइज्ज बहुसंभूआ, भूअरूवत्ति वा पुणो ॥ ३१० ॥
तहेवोसहिओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ । लाइमा भज्जिमाउत्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥ ३११ ॥
(त्रि)रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढावि अ । गब्भिआओ पसूआओ, संसाराउत्ति आलवे ॥ ३१२ ॥

तहेव गंतुमिति, तथैवेति पूर्ववत्, गत्वा उद्यानं-जनक्रीडास्थानं तथा पर्वतान् प्रतीतान् तथा वनानि च, तत्र वृक्षान्महतो-महाप्रमाणान् प्रेक्ष्य-दृष्ट्वा नैवं भाषेत प्रज्ञावान्-साधुरिति ॥ ३०३ ॥ कथमित्याह-अलमिति, अलं-पर्याप्ता एते वृक्षाः प्रासादस्तम्भयोः, अत्रैकस्तम्भः प्रासादः, स्तम्भस्तु स्तम्भ एव, तयोरलं, तथा तोरणानां-नगरतोरणादीनां गृहाणां च-कुटीरकादीनामलमिति योगः, तथा परिघार्गलानावां वा तत्र नगरद्वारे परिघः, गोपुर-कपाटादिषु अर्गला, नौः प्रतीता, आसां अलं एते वृक्षाः, तथोदकद्रोणीनामलं, उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका इति ॥३०४॥

तथा पीढए इति, पीठकायालमेते वृक्षाः, पीठकं प्रतीतं तदर्थं, "सुपां सुपो भवन्ती"ति चतुर्थ्यर्थे प्रथमा, एवं सर्वत्र योजनीयं, तथा चंगबेरा येत्ति चंगबेरा–काष्ठपात्री तथा नङ्गलेत्ति नांगलं–हलं, तथा अलं मयिकाय स्यात्, मयिकं–उप्तबीजाच्छादनं, तथा यन्त्रयष्टये वा, यंत्रयष्टिः प्रसिद्धा, नामये वा, नाभिः–शकटरथाङ्ग गण्डिकायै वाऽलं स्युरेते वृक्षा इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावानिति वर्त्तते, गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी स्थापनी भवतीति ॥३०५॥ तथा आसणंति, आसनं–आसन्दकादि, शयनं–पर्यङ्कादि, यानं–युग्यादि, भवेद्वा किंचिदुपाश्रये–वसतावन्यद्वा द्वारपात्राद्येतेषु वृक्षेष्विति, भूतोपघातिनीं–सत्त्वपीडाकारिणीं भाषां नैव भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति, दोषाश्चात्र तद्वनस्वामी व्यन्तरादिः कुप्येत्, सलक्षणो वा वृक्ष इत्यभिगृह्णीयात्, अनियमितभाषिणो लाघवं चेत्येवमादयो योज्याः ॥ ३०६ ॥ अत्रैव विधिमाह–तहेवत्ति, वस्तुतः पूर्ववदेव, नवरमेवं भाषेत ॥ ३०७ ॥ जाइमंतत्ति, जातिमन्तः–उत्तमजातीया अशोकादयोऽनेकप्रकारा वा एते–उपलभ्यमानस्वरूपा वृक्षा दीर्घवृत्ता महालयाः–दीर्घा नालिकेरिप्रभृतयो, वृत्ता नन्दिवृक्षादयो, महालया वटादयः, प्रजातशाखा–उत्पन्नडाला, विटपिनः–प्रशाखावन्तो वदेद्दर्शनीया इति, एते च प्रयोजने उत्पन्ने विश्रमणतदासन्नमार्गकथनादौ वदेन्नान्यदेति ॥ ३०८ ॥ तहा फलाइं पक्काइत्ति, तथा फलानि–आम्रफलादीनि पक्वानि–पाकप्राप्तानि, तथा पाकखाद्यानि–बद्धास्थीनि गर्त्ताप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति नो वदेत्, तथा वेलोचितानि–पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतः परं कालं न विषहन्तीत्यर्थः, टालानि–अबद्धास्थीनि कोमलानीति यदुक्तं भवति, तथा द्वैधिकानीति–पेशीसम्पादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि वेति नो वदेत्, दोषाः पुनरत्रात ऊर्ध्वं नाश एवामीषां, न शोभनानि

आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए । भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३०६ ॥
तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ । रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३०७ ॥
जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया । पजायसाला विडिमा, वए दरिसणित्ति अ ॥ ३०८ ॥
तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए । वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइ त्ति नो वए ॥ ३०९ ॥
असंथडा इमे अंबा, बहुनिव्वडिमाफला । वइज्ज बहुसंभूआ, भूअरूवत्ति वा पुणो ॥ ३१० ॥
तहेवोसहिओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ । लाइमा भज्जिमाउत्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥ ३११ ॥
(वि)रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढावि अ । गब्भिआओ पसूआओ, संसाराउत्ति आलवे ॥ ३१२ ॥

तहेव गंतुमिति, तथैवेति पूर्ववत्, गत्वा उद्यानं-जनक्रीडास्थानं तथा पर्वतान् प्रतीतान् तथा वनानि च, तत्र वृक्षान्महतो-महाप्रमाणान् प्रेक्ष्य-दृष्ट्वा नैवं भाषेत प्रज्ञावान्-साधुरिति ॥ ३०३ ॥ कथमित्याह-अलमिति, अलं-पर्याप्ता एते वृक्षाः प्रासादस्तम्भयोः, अत्रैकस्तम्भः प्रासादः, स्तम्भस्तु स्तम्भ एव, तयोरलं, तथा तोरणानां-नगरतोरणादीनां गृहाणां च-कुटीरकादीनामलमिति योगः, तथा परिघार्गलानावां वा तत्र नगरद्वारे परिघः, गोपुर-कपाटादिषु अर्गला, नौः प्रतीता, आसां अलं एते वृक्षाः, तथोदकद्रोणीनामलं, उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका इति ॥३०४॥

तथा पीढए इति, पीठकायालमेते वृक्षाः, पीठकं प्रतीतं तदर्थं, "सुपां सुपो भवन्ती"ति चतुर्थ्यर्थे प्रथमा, एवं सर्वत्र योजनीयं, तथा चंगबेरा येत्ति चंगवेरा-काष्ठपात्री तथा नङ्गलेत्ति नांगलं-हलं, तथा अलं मयिकाय स्यात्, मयिकं-उप्तबीजाच्छादनं, तथा यन्त्रयष्टये वा, यंत्रयष्टिः प्रसिद्धा, नामये वा, नाभिः-शकटरथाङ्गं गण्डिकायै वाऽलं स्युरेते घृक्षा इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावानिति वर्त्तते, गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी स्थापनी भवतीति ॥२०५॥ तथा आसणंति, आसनं-आसन्दकादि, शयनं-पर्यङ्कादि, यानं-युग्यादि, भवेद्वा किंचिदुपाश्रये-वसतावन्यद्वा द्वारपात्राद्येतेपु वृक्षेष्विति, भूतोपघातिनीं-सत्त्वपीडाकारिणीं भाषां नैव भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति, दोपाश्चात्र तद्वनस्वामी व्यन्तरादिः कुप्येत्, सलक्षणो वा वृक्ष इत्यभिगृह्णीयात्, अनियमितभाषिणो लाघवं चेत्येवमादयो योज्याः ॥ २०६ ॥ अत्रैव विधिमाह-तहेवत्ति, वस्तुतः पूर्ववदेव, नवरमेवं भाषेत ॥ २०७ ॥ जाइमंतत्ति, जातिमन्तः-उत्तमजातीया अशोकादयोऽनेकप्रकारा वा एते-उपलभ्यमानस्वरूपा वृक्षा दीर्घवृत्ता महालयाः-दीर्घा नालिकेरिप्रभृतयो, वृत्ता नन्दिवृक्षादयो, महालया वटादयः, प्रजातशाखा-उत्पन्नडाला, विटपिनः-प्रशाखावन्तो वदेद्दर्शनीया इति, एते च प्रयोजने उत्पन्ने विश्रमणतदासन्नमार्गकथनादौ वदेन्नान्यदेति ॥ २०८ ॥ तहा फलाइं पक्काइत्ति, तथा फलानि-आम्रफलादीनि पक्कानि-पाकप्राप्तानि, तथा पाकखाद्यानि-बद्धास्थीनि गर्त्ताप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति नो वदेत्, तथा वेलोचितानि-पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतः परं कालं न विपहन्तीत्यर्थः, टालानि-अबद्धास्थीनि कोमलानीति यदुक्तं भवति, तथा द्वैधिकानीति-पेशीसम्पादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि वेति नो वदेत्, दोषाः पुनरत्रात ऊर्ध्वं नाश एवामीषां, न शोभनानि

आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए । भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३०६ ॥
तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ । रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३०७ ॥
जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया । पयायसाला विडिमा, वए दरिसणित्ति अ ॥ ३०८ ॥
तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए । वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइ त्ति नो वए ॥ ३०९ ॥
असंथडा इमे अंबा, बहुनिव्वडिमाफला । वइज्ज बहुसंभूआ, भूअरूवत्ति वा पुणो ॥ ३१० ॥
तहेवोसहिओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ । लाइमा भज्जिमाउत्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥ ३११ ॥
(रि)रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढावि अ । गब्भिआओ पसूआओ, संसाराउत्ति आलवे ॥ ३१२ ॥

तहेव गंतुमिति, तथैवेति पूर्ववत्, गत्वा उद्यानं-जनक्रीडास्थानं तथा पर्वतान् प्रतीतान् तथा वनानि च, तत्र वृक्षान्महतो-महाप्रमाणान् प्रेक्ष्य-दृष्ट्वा नैवं भाषेत प्रज्ञावान्-साधुरिति ॥ ३०३ ॥ कथमित्याह-अलमिति, अलं-पर्याप्ता एते वृक्षाः प्रासादस्तम्भयोः, अत्रैकस्तम्भः प्रासादः, स्तम्भस्तु स्तम्भ एव, तगोरलं, तथा तोरणानां-नगरतोरणादीनां गृहाणां च-कुटीरकादीनामलमिति योगः, तथा परिघार्गलानावां च तत्र नगरद्वारे परिघः, गोपुर-कपाटादिषु अर्गला, नौः प्रतीता, आसां अलं एते वृक्षाः, तथोदकद्रोणीनामलं, उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका इति ॥३०४॥

वाग्विधिप्रतिषेधाधिकारेऽनुवर्त्तमाने इदमपरमाह—तहेवत्ति, तथैव संखडिं ज्ञात्वा संखण्डयन्ते प्राणिनामायूंषि यस्यां प्रकरणक्रियायां सा संखडी तां ज्ञात्वा, करणीयेति पित्रादिनिमित्तं कृत्यैवैषेति नो वदेत्, मिथ्यात्वोपबृंहणदोषात्, तथा स्तेनकं चापि वध्य इति नो वदेत्, तदनुमतत्वेन निश्चयादिदोषप्रसङ्गात्, सुतीर्था इति च, चशब्दाद् दुस्तीर्था इति वा आपगा—नद्यः, केनचित्पृष्टः सन्नो वदेत्, अधिकरणविघातादिदोषप्रसङ्गादिति ॥२१३॥ प्रयोजने पुनरेवं वदेदित्याह— संखडिंति, संखडिं संखडिं ब्रूयात्, साधुकथनादौ संकीर्णा संखडिरित्येवमादि, पणितार्थ इति स्तेनकं वदेत्, शैक्षकादिककर्मविपाकदर्शनादौ, पणितेनार्थोऽस्येति पणितार्थः, पणद्यूतप्रयोजन इत्यर्थः। तथा बहुसमानि तीर्थानि आपगानां—नदीनां व्यागृणीयात्साध्वादिविषय इति ॥ २१४ ॥

तहा नईओ पुण्णाओ, कायतिज्जत्ति नो वए। नावाहिं तारिमाउत्ति, पाणिपिज्जत्ति नो वए ॥ २१५ ॥

बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा। बहुवित्थडोदगा आवि, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ २१६ ॥

तहेव सावज्जं जोगं, परस्सट्ठा अ निट्ठिअं। कीरमाणंति वा नच्चा, सावज्जं न लवे मुणी ॥ २१७ ॥

वाग्विधिप्रतिषेधाधिकार एव इदमाह—तहा नईउत्ति, तथा नद्यः पूर्णा—भृता इति नो वदेत्, प्रवृत्तश्रवणनिवर्त्तनादिदोषात्, तथा कायतरणीयाः—शरीरतरणयोग्या इत्येवं नो वदेत्, साधुवचनतोऽविघ्नमिति प्रवर्त्तनादिदोषप्रसङ्गात्, तथा नौभिः—द्रोणीभिस्तरणीयाः—तरणयोग्या इत्येवं नो वदेत्, अन्यथा विघ्नशङ्कया तत्प्रवर्त्तनात्, तथा प्राणिपेयाः—तटस्थ-

वा प्रकारान्तरमोगेनेत्यथमार्ग गृहिप्रवृत्यावधिकरणादय इति ॥ ३०९ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादो चैवं वदेदित्याह–असंथडत्ति, असमर्था एते आम्राः, अतिभारेण न प्रभवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः, आम्रग्रहणं प्रधानवृक्षोपलक्षणं, एतेन पकार्थ उक्तः, तथा बहुनिर्वर्तितफलाः-बहूनि निर्वर्तितानि-बद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा, अनेन पाकखाद्यार्थ उक्तः, वदेद् बहुनि-संभूतानि-पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथाविधाः, अनेन वेलोचितार्थ उक्तः, तथा भूतरूपा इति वा पुनर्वदेद्भूतानि रूपाणि-अबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालाद्यर्थ उपलक्षित इति ॥ ३१० ॥ तहस्ति, तथैवौषधयः-शाल्यादिलक्षणाः पक्वा इति तथा नीलाश्छवय इति, वल्लचनकादिफललक्षणाः, तथा लवनवत्यो-लवनयोग्याः, भर्जनवत्य इति-भर्जनयोग्याः, पृथुकभक्ष्या इति नो वदेत् पृथुकभक्षणयोग्याः, नो वदेदिति सर्वत्र सम्बध्यते, पृथुका अर्द्धपक्वशाल्यादिषु क्रियन्ते, अभिधानदोषाः पूर्ववदिति ॥ ३११ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादावेवमालपेदित्याह–रूढस्ति, रूढाः-प्रादुर्भूताः, बहुसंभूता-निष्पन्नप्रायाः, स्थिरा-निष्पन्नाः, उत्सृता इति वा-उपघातेभ्यो निर्गता वा, तथा गर्भिता-अनिर्गतशीर्षकाः प्रसूता-निर्गतशीर्षकाः, ससाराः-संजाततण्डुलादिसारा इत्येवमालपेत्, पक्वाद्यर्थयोजना स्वधिया कार्येति ॥ ३१२ ॥

तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जंति नो वए। तेणगं वावि वज्झत्ति, सुतित्थित्ति अ आवगा ॥ ३१३ ॥
संखडिं संखडिं बूआ, पणिअट्ठं त्ति तेणगं । बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं विआगरे ॥ ३१४ ॥

वर्जयेन्मुनिरनुमत्यादिदोषप्रसङ्गात्, निरवद्यं तु न वर्जयेत्, यथा–सुकृतमिति सुष्ठु कृतं वैयावृत्त्यमनेन, सुपक्कमिति–सुष्ठु पक्वं ब्रह्मचर्यं साधोः, सुच्छिन्नमिति–सुष्ठु छिन्नं स्नेहबन्धनमनेन, सुहृतमिति सुष्ठु हृतं शिक्षकोपकरणमुपसर्गे, सुमृत इति–सुष्ठु मृतः पण्डितमरणेन साधुरिति, अत्रापि सुशब्दोऽनुवर्त्तते, सुनिष्ठितं–सुष्ठु निष्ठितं कर्म्माप्रमत्तसंयतस्य, सुलट्ठत्ति–सुष्ठु सुन्दरा साधुक्रियेत्येवमादिरिति ॥ ३१८ ॥ उक्तानुक्तापवादविधिमाह–पयत्तत्ति, प्रयत्नपक्कमिति वा प्रयत्नपक्कमेतत्, पक्कं सहस्रपाकादि ग्लानादिप्रयोजने एवमालपेत्, तथा प्रयत्नच्छिन्नमिति वा–प्रयत्नच्छिन्नमेतच्छिन्नं–व्रणा(वना)दि साधुनिवेदनादावेवमालपेत्, तथा प्रयत्नलष्टेति चेति प्रयत्नसुन्दरा कन्या दीक्षिता सती सम्यक् पालनीयेति, कर्महेतुकमिति सर्वमेव वा कृतादि कर्म्मनिमित्तमालपेदिति योगः, तथा गाढप्रहारमिति वा कञ्चन गाढमालपेत्–गाढप्रहारं ब्रूयात्, क्वचित्प्रयोजने, एवं हि तदप्रीत्यादयो दोषाः परिहृता भवन्ति इति ॥ ३१९ ॥

सव्वुक्कसं परग्घं वा, अउलं नत्थि एरिसं । अविक्किअमवत्तव्वं, अचिअत्तं चेव नो वए ॥ ३२० ॥

सव्वमेअं वइस्सामि, सव्वमेअं ति नो वए । अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३२१ ॥

सुक्कीअं वा सुविक्कीअं, अकिज्जं किज्जमेव वा । इमं गिण्ह इमं मुंच, पणीयं नो विआगरे ॥ ३२२ ॥

अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए वा विक्कएवि वा । पणिअट्ठे समुप्पन्ने, अणवज्जं विआगरे ॥ ३२३ ॥

क्वचिद् व्यवहारे प्रक्रान्ते पृष्टो वा अपृष्टो वा नैवं वदेदित्याह–सव्वुक्कसंति, एतन्मध्ये इदं सर्वोत्कृष्टं–स्वभावेन

प्राणिपेया नो वदेदिति, तथैव प्रवृत्तनिवर्त्तनादिदोषादिति ॥ ३१५ ॥ प्रयोजने तु साधुमार्गकथनादावेवं भाषेतेत्याह–बहुवाहडेति, बहुधा भृताः प्रायशो भृता इत्यर्थः, तथा अगाहा इति बहुगाधाः प्रायोगम्भीराः, तथा बहुसलिलोत्पीलोदकाः–प्रतिश्रोतोवाहितापरसरित इत्यर्थः, तथा बहुविस्तीर्णोदकाश्च–स्वतीरप्लावनप्रवृत्तजलाश्च, एवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुः, न तु तदाऽऽगतपृष्टो न वेद्म्यहमिति ब्रूयात्, प्रत्यक्षमृषावादित्वेन तत्प्रद्वेषादिदोषप्रसङ्गादिति ॥ ३१६ ॥ वाग्विधिप्रतिषेधाधिकार एवेदमाह–तहेवत्ति, तथैव सावद्यं–सपापं, योगं–व्यापारं अधिकरणं समादिविषयं परस्यार्थाय–परनिमित्तं निष्ठितं–निष्पन्नं तथा क्रियमाणं वा वर्त्तमानं वाशब्दात् भविष्यत्काले भाविनं वा ज्ञात्वा सावद्यं नालपेत् सपापं न ब्रूयान्मुनिः–साधुरिति ॥ ३१७ ॥

सुकडेत्ति सुपक्कित्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे। सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥ ३१८ ॥

पयत्तपक्कत्ति व पक्कमालवे, पयत्तच्छिन्नत्ति व छिन्नमालवे।

पयत्तलट्ठित्ति व कम्महेउअं, पहारगाढत्ति व गाढमालवे ॥ ३१९ ॥

तत्र निष्ठितं नैवं ब्रूयात् इत्याह–सुकडित्ति, सुष्ठु कृतं सुकृतं सभादि, सुपक्वमिति, सुष्ठु पक्वं सहस्रपाकादि, सुच्छिन्नमिति–सुष्ठु छिन्नं तद्वनादि, सुहृतमिति–सुष्ठु हृतं क्षुद्रस्य वित्तमिति, सुमृत इति–सुष्ठु मृतः प्रत्यनीक इति, अत्रापि सुशब्दोऽनुवर्त्तते, सुनिष्ठितमिति सुष्ठु निष्ठितं वित्ताभिमानिनो वित्तं, सुलट्ठित्ति–सुष्ठु सुन्दरा कन्या इति, सावद्यमालपनं

बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो । न लवे असाहु साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे ॥ ३२५ ॥
नाणदंसणसंपन्नं, संजमे अ तवे रयं । एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥ ३२६ ॥ तथा शेषव

किंच-तहेवत्ति, तथैवासंयतं-गृहस्थं धीरो-यतिः, आस्वेहैव, एहीतोऽत्र, कुरु वेदं-संचयादीति, तथा शेषव निद्रया, तिष्ठोर्ध्वस्थानेन व्रज ग्राममिति नैवं भाषेत प्रज्ञावान्-साधुरिति ॥ ३२४ ॥ बहवेत्ति, बहव एते-उपलभ्य- मानस्वरूपा आजीविकादयः असाधवो निर्वाणसाधकयोगापेक्षया लोके तु प्राणिलोके प्राणिसंघात उच्यन्ते साधवः सामान्येन, तत्र नालपेत् असाधुं माधुं मृषावादप्रसङ्गात्, अपि तु साधुं साधुमित्यालपेत्, न तु तमपि नालपेत्, उपबृंहणाति- चारदोषप्रसङ्गादिति ॥ ३२५ ॥ किंविशिष्टं साधुं साधुमित्यालपेदित्याह-नाणत्ति, ज्ञानदर्शनसंपन्नं-समृद्धं, संयमे तपसि च रतं यथाशक्त्या एवं गुणसमायुक्तं संयतं साधुमालपेत्, न तु द्रव्यलिङ्गधारिणमपीति ॥ ३२६ ॥

देवाणं मणुआणं च, तिरिआणं च वुग्गहे । अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥ ३२७ ॥
वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवंति वा । कया णु हुज्ज एयाणि ?, मा वा होउ त्ति नो वए ॥ ३२८ ॥

तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देवदेवत्ति गिरं वइज्जा ।
समुच्छिए उन्नए वा पओए, वइज्ज वा वुट्ठ बलाहयत्ति ॥ ३२९ ॥

सुन्दरमित्यर्थः, परार्घं चोत्तमार्घं वा महार्घं क्रीतमिति भावः, अतुलं-नास्तीदृशमन्यत्रापि क्वचित्, अविक्किंयंति-असंस्कृतं सुलभमीदृशमन्यत्रापि, अवक्तव्यमित्यनन्तगुणमेतदेव अचियत्तं वा-अप्रीतिकरं चैतदिति नो वदेद्, अधिकरणान्तरायादिदोषप्रसङ्गादिति ॥ ३२० ॥ किंच-सव्वमेयमिति, सर्वमेतद्वक्ष्यामीति केनचित्कस्यचित्संदिष्टे सर्वमेतत् त्वया वक्तव्यमिति, सर्वमेतद्वक्ष्यामीति नो वदेत्, सर्वस्य तथास्वरव्यञ्जनाद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तथा सर्वमेतदिति नो वदेत्, कस्यचित्संदेशं प्रयच्छन्, सर्वमेतदित्येवं वक्तव्यमिति नो वदेत्, सर्वस्य तथास्वरव्यञ्जनाद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वात्, असंभवाभिधाने मृषावादः, यतश्चैवमतोऽनुचिन्त्यालोच्य सर्वं वाच्यं सर्वेषु कार्येषु यथाऽसंभवाद्यभिधानादिना मृषावादो न भवत्येवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति ॥ ३२१ ॥ किंच-सुक्कीयं वत्ति, सुक्रीतं चेति केनचित् किञ्चित् क्रीतं दर्शितं सत् सुक्रीतमिति न व्यागृणीयादिति योगः, तथा सुविक्कीतमिति किञ्चित्केनचिद्विक्रीतं दृष्ट्वा पृष्टः सन् सुविक्रीतमिति न व्यागृणीयात्, तथा केनचित्क्रीते पृष्टः, अकेयं-क्रयार्हमेव न भवतीति न व्यागृणीयात्, तथैवमेव केयमेव वा-क्रयार्हमिति, तथेदं-गुडादि गृह्णीयादा(गृहाणा)गामिनि काले महार्घं भविष्यतीति, तथेदं मुञ्च घृताद्यागामिनि काले समर्घं भविष्यतीतिकृत्वा पणितं-पण्यं नैव व्यागृणीयात्, अप्रीत्यधिकरणादिदोषप्रसङ्गादिति ॥ ३२२ ॥ अत्रैव विधिमाह-अप्पग्घे वत्ति, अल्पार्घे वा महार्घे वा, कस्मिन्नित्याह-क्रये वा विक्रयेऽपि वा पणितार्थे-पण्यवस्तुनि समुत्पन्ने केनचित्पृष्टः सन्ननवद्यं-अपापं व्यागृणीयात् यथा नाधिकारोऽत्र तपस्विनां, व्यापाराभावादिति ॥ ३२३ ॥

तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा । सय चिट्ठ वयाहित्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३२४ ॥

तहेवत्ति, तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः-वाक् यथा सुष्ठु हतो ग्राम इति, तथाऽवधारिणी-इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा, या च परोपघातिनी यथा-मांसमदोपाय, से इति तामेवंभूतां, क्रोधाल्लोभाद्भयाद्धासाद्वा, मानप्रेमादीनामुपलक्षणमेतन्मानवः-पुमान् साधुर्न हसन्नपि गिरं वदेत्, प्रभूतकर्मबन्धहेतुत्वादिति ॥ ३३१ ॥

सवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मिअं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥ ३३२ ॥
भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणीआ, तीसे अदुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ॥ ३३३ ॥
परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए, चउक्कसायावगए अणिस्सिए ।
से निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ ३३४ ॥ त्तिबेमि ॥

इति सवक्कसुद्धीअज्झयणं समत्तं ७ ॥

वाक्यशुद्धिफलमाह-सवक्कत्ति, मद्वाक्यशुद्धिं स्ववाक्यशुद्धिं वा सवाक्यशुद्धिं वा, सतीं शोभनां, स्वां आत्मीयां, स इति वक्ता, वाक्यशुद्धिं संप्रेक्ष्य-सम्यग्दृष्ट्वा मुनिः-साधुः, गिरं तु दुष्टां-यथोक्तलक्षणां परिवर्जयेत्सदा, किंतु मितं

अंतलिक्खत्ति णं बूआ, गुज्झाणुचरिअत्ति अ । रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतंति आलवे ॥ ३३० ॥

तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा, ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमाणोऽवि गिरं वइज्जा ॥ ३३१ ॥

किंच-देवाणंति, देवानां-देवासुराणां, मनुजानां च-नरेन्द्रादीनां, तिरश्चां च-महिषादीनां विग्रहे-सङ्ग्रामे सत्यमुक्तानां देवादीनां जयो भवतु मा वा भवतु इति च नो वदेत्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसंगादिति ॥ ३२७ ॥ किं च-वाओत्ति, वातो-मलयमारुतादिः, वृष्टं वा प्रवर्षणं, शीतोष्णं प्रतीतं, क्षेमं-राजविड्वरशून्यं, ध्रातं-सुभिक्षं, शिवमिति चोपसर्गरहितं कदा नु भवेयुरेतानि वातादीनि मा भवेयुरिति, धर्माद्यभिभूतो नो वदेद्, अधिकरणादि-दोषप्रसङ्गात्, वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडापत्तेस्तद्वचनतस्तथाऽभवनेऽप्यार्तध्यानभावादिति ॥ ३२८ ॥ तहेवत्ति, तथैव मेघं वा नभो मानवं चाश्रित्य नो देवदेवत्ति गिरं वदेत्, मेघमुन्नतं दृष्ट्वा 'उन्नतो देव' इति नो वदेत्, एवं नभः-आकाशं मानवं-राजानं देवमिति नो वदेत् मिथ्यावादलाघवादिप्रसङ्गात्, कथं तर्हि वदेत् ? इत्याह मेघमुन्नतं दृष्ट्वा सम्मूर्छित उन्नतो वा पयोद इति, वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति ॥ ३२९ ॥ नभ आश्रित्याह—अंतलिक्खत्ति, इह नभोऽन्तरिक्षमिति ब्रूयात्, गुह्यानुचरितमिति वा सुरसेवितमित्यर्थः, एवं किल मेघोऽप्येतदुभयशब्दवाच्य एव, तथा ऋद्धिमन्तं-संपदुपेतं नरं दृष्ट्वा, किमित्याह-ऋद्धिमन्तमिति ऋद्धिमानयमित्येवमालपेत् व्यवहारतो मृषावादादिपरिहारार्थम् ॥ ३३० ॥ किंच-

तहेवत्ति, तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः–वाक् यथा सुष्ठु हतो ग्राम इति, तथाऽवधारिणी–इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा, या च परोपघातिनी यथा–मांसमदोषाय, से इति तामेवंभूतां, क्रोधाल्लोभाद्भयाद्धासाद्वा, मानप्रेमादीनामुपलक्षण-मेतन्मानवः–पुमान् साधुर्न हसन्नपि गिरं वदेत्, प्रभूतकर्मबन्धहेतुत्वादिति ॥ ३३१ ॥

सवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मिअं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥ ३३२ ॥
भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणीआ, तीसे अदुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ॥ ३३३ ॥
परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए, चउक्कसायावगए अणिस्सिए ।
से निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ ३३४ ॥ त्तिबेमि ॥

इति सवक्कसुद्धीअज्झयणं समत्तं ७ ॥

वाक्यशुद्धिफलमाह–सवक्कत्ति, सद्वाक्यशुद्धिं स्ववाक्यशुद्धिं वा सवाक्यशुद्धिं वा, सतीं शोभनीं, स्वां आत्मीयां, स इति वक्ता, वाक्यशुद्धिं संप्रेक्ष्य–सम्यग्दृष्ट्वा मुनिः–साधुः, गिरं तु दुष्टां–यथोक्तलक्षणां परिवर्जयेत्सदा, किंतु मितं

अंतलिक्खत्ति ण वूआ, गुज्झाणुचरिअत्ति अ। रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतंति आलवे ॥ ३३० ॥

तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा, ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमाणोऽवि गिरं वइज्जा ॥ ३३१ ॥

किंच-देवाणत्ति, देवानां-देवासुराणां, मनुजानां च-नरेन्द्रादीनां, तिरश्चां च-महिषादीनां विग्रहे-सङ्ग्रामे मत्यमुकानां देवादीनां जयो भवतु मा वा भवतु इति च नो वदेत्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसङ्गादिति ॥ ३२७ ॥ किं च-वाओत्ति, वातो-मलयमारुतादिः, वृष्टं वा वर्षणं, शीतोष्णं प्रतीतं, क्षेमं-राजविड्वरशून्यं, ध्मातं-सुभिक्षं, शिवमिति चोपसर्गरहितं कदा नु भवेयुरेतानि वातादीनि मा भवयुरिति, घर्माद्यभिभूतो नो वदेद्, अधिकरणादिदोषप्रसङ्गात्, वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडापत्तेस्तद्वचनतस्तथाऽभवनेऽप्यार्त्तध्यानभावादिति ॥ ३२८ ॥ तहेवत्ति, तथैव मेघं वा नभो मानवं वाश्रित्य नो देवदेवत्ति गिरं वदेत्, मेघमुन्नतं दृष्ट्वा 'उन्नतो देव' इति नो वदेत्, एवं नभः-आकाशं मानवं-राजानं देवमिति नो वदेत् मिथ्यावादलाघवादिप्रसङ्गात्, कथं तर्हि वदेत् ? इत्याह मेघमुन्नतं दृष्ट्वा सम्मूर्छित उन्नतो वा पयोद इति, वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति ॥ ३२९ ॥ नभ आश्रित्याह—अंतलिक्खत्ति, इह नभोऽन्तरिक्षमिति ब्रूयात्, गुह्यानुचरितमिति वा सुरसेवितमित्यर्थं, एवं किल मेघोऽप्येतदुभयशब्दवाच्य एव, तथा ऋद्धिमन्तं-सम्पदुपेतं नरं दृष्ट्वा, किमित्याह-ऋद्धिमन्तमिति ऋद्धिमानयमित्येवमालपेत् व्यवहारतो मृषावादादिपरिहारार्थम् ॥ ३३० ॥ किंच-

तहेवत्ति, तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः–वाक् यथा सुष्ठु हतो ग्राम इति, तथाऽवधारिणी–इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा, या च परोपघातिनी यथा–मांसमदोषाय, से इति तामेवंभूतां, क्रोधाल्लोभाद्भयाद्धासाद्वा, मानप्रेमादीनामुपलक्षण-मेतन्मानवः–पुमान् साधुर्न हसन्नपि गिरं वदेत्, प्रभूतकर्मबन्धहेतुत्वादिति ॥ ३३१ ॥

सवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मिअं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्जे लहई पसंसणं ॥ ३३२ ॥
भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणीआ, तीसे अदुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ॥ ३३३ ॥
परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए, चउक्कसायावगए अणिस्सिए ।
से निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ ३३४ ॥ त्तिबेमि ॥

इति सवक्कसुद्धीअज्झयणं समत्तं ७ ॥

वाक्यशुद्धिफलमाह–सवक्कत्ति, सद्वाक्यशुद्धिं स्ववाक्यशुद्धिं वा सवाक्यशुद्धिं वा, मतीं शोभनां, स्वां आत्मीयां, स इति वक्ता, वाक्यशुद्धिं संप्रेक्ष्य–सम्यग्दृष्ट्वा मुनिः–साधुः, गिरं तु दुष्टां–यथोक्तलक्षणां परिवर्जयेत्सदा, किंतु मितं

स्वरतः परिमाणतश्च, अदुष्टं-देशकालोपपन्नादि अनुविचिन्त्य-पर्यालोच्य भाषमाणः सन् सतां-साधूनां मध्ये लभते प्रशंसनं-प्राप्नोति प्रशंसामिति ॥ ३३२ ॥ यतश्चैवमतः-भासाएत्ति, भाषाया उक्तलक्षणाया दोषांश्च गुणांश्च ज्ञात्वा-यथावदवेत्य तस्याश्च दुष्टाया भाषायाः परिवर्जको-विवर्जकः सदा, एवम्भूतः सन् षड्जीवनिकायेषु संयतस्तथा श्रामण्ये-श्रमणभावे चरणपरिणामगर्भे चेष्टिते सदा यतः-सर्वकालमुद्युक्तः सन् वदेत् बुद्धो हितानुलोमं-हितं परिणामसुन्दरं अनुलोमं-मनोहारीति ॥ ३३३ ॥ उपसंहरन्नाह-परिक्खवत्ति, परीक्ष्यभाषी-आलोचितवक्ता तथा सुसमाहितेन्द्रियः-सुप्रणिहितेन्द्रिय इत्यर्थः, अपगतचतुष्कषायः-क्रोधादिनिरोधकर्त्तेति भावः,अनिश्रितो-द्रव्यभावनिश्रारहितः, प्रतिबन्धविमुक्त इति हृदयं, स इत्थंभूतो निर्धूय-प्रस्फोट्य धूम्रमलं-पापमलं, पुराकृतं-जन्मान्तरकृतं, किमित्याह आराधयति-प्रगुणीकरोति लोकमेनं-मनुष्यलोकं वाक्संयतत्वेन, तथा परमिति-परलोकमाराधयति निर्वाणलोकं, यथासम्भवमनन्तरं पारम्पर्येण चेत्यर्थः ॥ ३३४ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववदेवेति ॥

इति श्रीसुमतिसाधुविरचितायां दशवैकालिकटीकायां
सप्तमस्य वाक्यशुद्ध्यध्ययनस्य व्याख्यानं समाप्तम् ७ ॥

व्याख्यातं वाक्यशुद्ध्यध्ययनं, इदानीमाचारप्रणिध्याख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः । इहानन्तराध्ययने साधुना वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा वक्तव्यमित्येतदभिहितं, इह तु तन्निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुच्यते उक्तं च-" पणिहाणरहियस्सेह निरवज्जंपि भासियं । सावज्जतुल्लं विन्नेयं, अज्झत्थेणेह संवुडं ॥ १ ॥" इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति, तद्यथा—

आयारप्पणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा । तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ ३३५ ॥

आचारमित्यादि, आचारप्रणिधिमुक्तस्वरूपं लब्ध्वा-प्राप्य यथा-येन प्रकारेण कर्त्तव्यं विहितानुष्ठानं भिक्षुणा-साधुना, तं प्रकारं भे-भवद्भ्य उदाहरिष्यामि-कथयिष्याम्यानुपूर्व्या-परिपाट्या श्रृणुत ममेति गौतमादयः स्वशिष्यानाहुरिति ॥ ३३५ ॥ तं प्रकारमाह—

पुढवीदगअगणिमारुअ, तणरुक्खस्सबीयगा । तसा अ पाणा जीवत्ति इइ वुत्तं महेसिणा ॥ ३३६ ॥

तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होअव्वयं सिआ । मणसा कायवक्केणं, एवं हवइ संजए ॥ ३३७ ॥

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे । तिविहेण करणजोएणं, संजए सुसमाहिए ॥३३८॥

सुद्धपुढवीं न निसीए, ससरक्खंमि अ आसणे । पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥३३९॥

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि अ। उसिणोदगं तत्तफासुअं, पडिगाहिज्ज संजए ॥३४०॥
उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे। समुप्पेह तहाभूअं, नो णं संघट्टए मुणी ॥ ३४१ ॥
इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइअं। न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥३४२॥
तालिअंटेण पत्तेण, साहाए विहुणेण वा। न वीइज्जऽप्पणो कायं, बाहिरं वावि पुग्गलं ॥ ३४३ ॥
तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई। आमगं विविहं बीअं, मणसावि ण पत्थए ॥ ३४४ ॥
गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा। उदगंमि तहा निच्चं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ३४५ ॥
तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा। उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥ ३४६ ॥

पुढविचित्ति, पृथिव्युदकाग्निवायवस्तृणवृक्षसबीजा एते पञ्चैकेन्द्रियकायाः पूर्ववत्, त्रसाश्च प्राणिनो द्वीन्द्रियादयो जीवा इत्युक्तं महर्षिणा-वर्द्धमानेन गौतमेन वेति ॥ ३३६ ॥ यतश्चैवमतः-तेसिंत्ति, तेषां-पृथिव्यादीनां अक्षणयोगेन-अहिंसाव्यापारेण नित्यं भवितव्यं-वर्तितव्यं स्याद्भिक्षुणा मनसा कायेन वाक्येनैभिः करणैरित्यर्थः, एवं वर्त्तमानोऽहिंसकः सन् भवति संयतो, नान्य(था) इति ॥ ३३७ ॥ एवं सामान्येन षड्जीवनिकायाहिंसायां संयतत्वमभिधायाधुना तद्गतविधीन्विधानतो विशेषेणाह-पुढविंचित्ति, पृथिवीं शुद्धां भित्तिं-तटीं शिलां पाषाणात्मिकां

लेष्टुं-इष्टालखण्डं नैव भिन्द्यात् न संलिखेत्, तत्र भेदनं-द्वैधीभावोत्पादनं संलेखनं-ईषल्लेखनं त्रिविधेन करण-योगेन न करोति मनसेत्यादिना संयतः-साधुः, सुसमाहितः शुद्धभाव इति ॥ ३३८ ॥ तथा सुद्धत्ति, शुद्धपृथिव्यां अशस्त्रोपहतायामनन्तरितायां न निषीदेत्, तथा सरजस्के-पृथिवीरजोगुण्डिते वा आसने-पीठकादौ न निषीदेत्, निषीदनग्रहणात् स्थानत्वग्वर्त्तनपरिग्रहः; अचेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणेन निषीदेत्, ज्ञात्वेत्यचेतनां ज्ञात्वा याचयित्वा-ऽवग्रहमिति, यस्य सम्बन्धिनी पृथिवी तमवग्रहमनुज्ञाप्येत्यर्थः ॥ ३३९ ॥ उक्तः पृथिवीकायविधिः, अधुना अप्कायविधिमाह-सीओदगत्ति, शीतोदकं-पृथिव्युद्भवं सचित्तोदकं न सेवेत, तथा शिलावृष्टं हिमानि च न सेवेत, अत्र शिलाग्रहणेन करकाः परिगृह्यंते, वृष्टं वर्षणं, हिमं प्रतीतं प्राय उत्तरापथे भवति, यद्येवं कथमयं वर्त्ततेत्याह-उष्णोदकं-क्वथितोदकं तप्त-प्रासुकं-तप्तं सत् प्रासुकं त्रिदण्डोद्वृत्तं, नोष्णोदकमात्रं परिगृह्णीयात्, वृत्त्यर्थं संयतः-साधुः, एतच्च सौवीराद्युपलक्षणमिति ॥३४०॥ तथा उदउल्लंति, नदीमुत्तीर्णः भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहतः उदकार्द्रं-उदकबिन्दुचितमात्मनः कायं-शरीरं सस्निग्धं वा नैव पुञ्छयेद्वस्त्रतृणादिभिः न संलिखेत् पाणिना-हस्तेन, अपि तु संप्रेक्ष्य-निरीक्ष्य तथाभूतमुदकार्द्रादिरूपं नैव कायं संघट्टयेन्मुनिर्मनागपि न संस्पृशेदिति ॥ ३४१ ॥ उक्तोऽप्कायविधिः, तेजःकायविधिमाह-इंगालिंति, अङ्गारं-ज्वालारहितं, अग्निमयःपिण्डानुगं, अर्चिः-छिन्नज्वाला, अलातं-उल्मुकं वा सज्योतिः-साग्निकमित्यर्थः, किमित्याह-नो-त्सिञ्चयेन्न घट्टयेत्, तत्रोञ्जनमुत्सेचनं प्रदीपादेः, घट्टनं-मिथश्चालनं, तथा नैनमग्निं निर्वापयेत्-अभावमापादयेन्मुनिः-साधुरिति ॥ ३४२ ॥ प्रतिपादितस्तेजःकायविधिः, वायुकायविधिमाह-तालियंटेणंति, तालवृन्तेन-व्यजनविशेषेण,

पत्रेण-पद्मिनीपत्रादिना, शाखया-वृक्षडालरूपया विधूवनेन वा-व्यजनेन वा, किमित्याह-न वीजयेदात्मनः कायं-स्वशरीरमित्यर्थः, बाह्यं वापि पुद्गलं-उष्णोदकादीति ॥ ३४३ ॥ प्रतिपादितो वायुकायविधिः, वनस्पतिविधिमाह-तणत्ति, तृणवृक्षमित्येकवद्भावः, तृणानि-दर्भादीनि वृक्षाः-कदम्बकादयः, एतांश्च छिन्द्यात्, फलं मूलकं वा कस्यचिद्वृक्षादेर्न छिन्द्यात् तथा आमं-अशस्त्रोपहतं विविधं-अनेकप्रकारं बीजं मनसापि न प्रार्थयेत्, किं पुनरश्नीयादिति ॥ ३४४ ॥ तथा गहणेसु, गहनेषु-वननिकुञ्जेषु च न तिष्ठेत्, सङ्घट्टनादिदोषप्रसङ्गात्, तथा बीजेषु-प्रसारितशाल्यादिषु, हरितेषु वा-दूर्वादिषु न तिष्ठेत्, उदके तथा नित्यं अत्रोदकं-अनन्तवनस्पतिविशेषः, यथोक्तं-"उदए अवए पणए" इत्यादि, उदकमेवान्ये, तत्र नियमतो वनस्पतिभावात्, उत्तिङ्गपनकयोर्वा न तिष्ठेत्, तत्रोत्तिङ्गः-सर्पच्छत्रादिः पनकः-उल्लिवनस्पतिरिति ॥ ३४५ ॥ उक्तो वनस्पतिविधिः, त्रसविधिमाह-तसत्ति, त्रसप्राणिनो-द्वीन्द्रियादीन् न हिंस्यात्, कथमित्याह-वाचा अथवा कर्मणा-कायेन, मनसस्तदन्तर्गतत्वादग्रहणं, अपि चोपरतः सर्वभूतेषु निक्षिप्तदण्डः सन् पश्येद्विविधं जगत्-कर्मपरतन्त्रं नरकादिगतिरूपं निर्वेदायेति ॥ ३४६ ॥

अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए। दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा ॥ ३४७ ॥

कयराइं(णि) अट्ठ सुहुमाइं? जाइं पुच्छिज्ज संजए। इमाइं ताइं मेहावी, आइक्खिज्ज वियक्खणो ॥ ३४८ ॥

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंगं तहेव य। पणगं बीअहरिअं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥ ३४९ ॥

एवमेआणि जाणिज्जा(त्ता),सव्वभावेण संजए । अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदिअसमाहिए ॥ ३५० ॥
उक्तः स्थूलविधिः, अथ सूक्ष्मविधिमाह–अट्ठत्ति, अष्टौ सूक्ष्माणि वक्ष्यमाणानि प्रेक्ष्योपयोगतः आसीत तिष्ठेत्
शयीत वेति योगः, किंविशिष्टानीत्याह–यानि ज्ञात्वा संयतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च दयाधिकारी भूतेषु
भवति, अन्यथा दयाधिकार्येव नेति, तानि प्रेक्ष्य तद्रहित एवासनादीनि कुर्यात्, अन्यथा तेषां विराधनेन सातिचारतेति
॥ ३४७ ॥ आह–कयराणित्ति, कतराणि तान्यष्टौ सूक्ष्माणि यानि दयाधिकारित्वाभावभयात् पृच्छेत्संयतः, १
अनेन दयाधिकारिण एवैवंविधेषु यत्नमाह, स ह्यवश्यं तदुपकारकाण्यपकारकाणि च पृच्छति, तत्रैव भावप्रतिबन्धादिति,
अमूनि तान्यनन्तरं वक्ष्यमाणानि मेधावी आचक्षीत विचक्षण इति, अनेनाप्येतदेवाह–मर्यादावर्त्तिना तज्ज्ञेन तत्प्ररू-
पणा कार्या, एवं हि श्रोतुस्तत्रोपादेयबुद्धिर्भवति, अन्यथा विपर्यय इति ॥ ३४८ ॥ सिणेहंति, स्नेहमिति स्नेहसूक्ष्मं–
अवश्यायहिममहिकाकरकहरतनुरूपं, पुष्पसूक्ष्मं चेति वटोदुम्बराणां पुष्पाणि, तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणीति न लक्ष्यन्ते,
प्राणीति, प्राणिसूक्ष्ममनुद्धरिः कुन्थुः, स हि चलन् विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वात्, उत्तिंगं तथैव चेति, उत्तिंगसूक्ष्मं–
कीटिकानगरं, तत्र कीटिका अन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति, तथा पनकमिति, पनकसूक्ष्मं प्रायः प्रावृट्काले भूमिकाष्ठादिषु
पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यलीनः पनक इति, तथा बीजसूक्ष्मं–शाल्यादिबीजस्य मुखमूले कणिका, या लोके तुषमुखमित्युच्यते, हरितं
चेति हरितसूक्ष्मं, तच्चाऽत्यन्ताभिनवोद्भिन्नं पृथिवीसमानवर्णमेवेति, अण्डसूक्ष्मं चाष्टममिति एतच्च मक्षिकाकीटिका-
गृहकोकिलाब्राह्मणीकृकलासाद्यण्डकमिति ॥ ३४९ ॥ एवमेआणित्ति, एवमुक्तेन प्रकारेण एतानि सूक्ष्माणि ज्ञात्वा

सन्नादेशेन सर्वभावेन-शक्त्यनुरूपेण स्वरूपसंरक्षणादिना संयतः-साधुः, किमित्याह-अप्रमत्तो-निद्रादिप्रमादरहितो पतेत मनोवाक्कायैः संरक्षणं प्रति, नित्यं-सर्वकालं सर्वेन्द्रियसमाहितः-शब्दादिषु रागद्वेषौ अगच्छन्निति ॥ ३५० ॥

धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं । सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवाऽऽसणं ॥ ३५१ ॥

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लिअं । फासुअं पडिलेहित्ता, परिट्ठाविज्ज संजए ॥ ३५२ ॥

पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोअणस्स वा । जयं चिट्ठे मिअं भासे, न य रूवेसु मणं करे ॥ ३५३ ॥

बहुं सुणेइ कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ । न य दिट्ठं सुअं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ ३५४ ॥

सुअं वा जइ वा दिट्ठं, न लविज्जोवघाइअं । न य केणइ उवाएणं, गिहिजोगं समायरे ॥ ३५५ ॥

निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगंति वा । पुट्ठो वावि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥ ३५६ ॥

न य भोअणंमि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो । अफासुअं न भुंजिज्जा, कीअमुद्देसिआहडं ॥ ३५७ ॥

संनिहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायंपि संजए । मुहाजीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए ॥ ३५८ ॥

लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिआ । आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चा णं जिणसासणं ॥ ३५९ ॥

कन्नसुक्खेहिं सद्देहिं, पेम्मं नाभिनिवेसए । दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहिआसए ॥ ३६० ॥
खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउण्हं अरइं भयं । अहिआसे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं ॥ ३६१ ॥
अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए । आहारमइयं सव्वं, मणसावि ण पत्थए ॥ ३६२ ॥

तथा धुवंति, तथा ध्रुवं च-नित्यं च यो यस्य काल उक्तोऽनागतः परिभोगे च तस्मिंस्तत्प्रत्युपेक्षेत सिद्धान्त-
विधिना योगे सति सामर्थ्ये अन्यूनातिरिक्तं, किं तदित्याह-पात्रकम्बलं-पात्रग्रहणादलाबुदारुमयादिपरिग्रहः, कम्बलग्रह-
णादूर्णासूत्रमयपरिग्रहः, तथा शय्यां-वसतिं द्विकालं त्रिकालं च, उच्चारभुवं च-अनापातवदादि स्थंडिलं तथा संस्तारकं-
तृणमयादिरूपं, अथवाऽऽसनं-अपवादगृहीतं पीठकादि प्रत्युपेक्षेतेति ॥ ३५१ ॥ तथा उच्चारंति, उच्चारं प्रश्रवणं श्लेष्म
सिंघानं जल्लमिति प्रतीतानि, एतानि प्रासुकं प्रत्युपेक्ष्य स्थण्डिलमिति वाक्यशेषः, परिष्ठापयेदुत्सृजेत्संयत इति
॥ ३५२ ॥ उपाश्रयस्थानविधिरुक्तः, गोचरप्रवेशमधिकृत्याह-पविसित्तुत्ति, प्रविश्य परागारं-परगृहं, पानार्थं
भोजनस्य वा ग्लानादेः औषधार्थं वा यतं-गवाक्षाद्यनवलोकयंस्तिष्ठेदुचितदेशे, मितं यतनया भाषेतागमनप्रयोज-
नादि, न रूपेषु-दारकान्तादिषु मनः कुर्यादेवम्भूतान्येतानीति न मनो निवेशयेत्, रूपग्रहणं रसाद्युपलक्षणमिति
॥ ३५३ ॥ गोचरादिगत एव केनचित्तथाविधं पृष्टः एवं ब्रूयादित्याह-बहुंति, अथवोपदेशाधिकार एव सामान्येनाह-
बहुंति, बहु-अनेकप्रकारं शोभनाशोभनं शृणोति कर्णाभ्यां, शब्दजातमिति गम्यते, तथा बहु-अनेकप्रकारमेव

शोभनाशोभनभेदेनाक्षिभ्यां पश्यति, रूपजातमिति गम्यते, एवं न च दृष्टं श्रुतं सर्वं स्वपरोभयाहितमपि श्रुता ते पत्नी रुदतीत्येवमादि भिक्षुराख्यातुमर्हति, चारित्रोपघातित्वात्, अर्हति च स्वपरोभयहित दृष्टि(दृष्ट)स्ते राजानमुपशामयन् शिष्य इत्येवमादीति ॥ ३५४ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह–सुयंति, श्रुतं वा अन्यतो यदि वा दृष्टं स्वयमेव न लपेत्त भाषेत, औपघातिकं–उपघातेन निर्वृत्तं तत्फलं वा, यथा–चौरस्त्वमित्यादि; अतोऽन्यच्छपेदपीति गम्यते, तथा न च केनचिदुपायेन सूक्ष्मयापि भङ्गया गृहियोगं–गृहिसम्बन्धं तद्बालग्रहणादिरूपं गृहिव्यापारं वा–प्रा(आ)रम्भरूपं समाचरेत्–कुर्यादिति ॥ ३५५ ॥ किंच–निट्ठाणंति, निष्ठान्नं–सर्वगुणोपेतं संभृतमन्नं रसनिर्यूढमेतद्विपरीतं कदशनं, एतदाश्रित्याद्यं भद्रकं द्वितीयं पापकमिति वा, पृष्टो वापि परेण कीदृग्लब्धमित्यपृष्टो वा स्वयमेव लाभालाभं निष्ठानादेर्न निर्दिशेद्, अथ साधु लब्धमसाधु वा शोभनमिदं अपरमशोभनं वेति ॥ ३५६ ॥ किंच–न येति, न च भोजने गृद्धः सन्निविशिष्टवस्तुलाभायेश्वरादिषु कुलेषु मुखमङ्गलिकया चरेत्, अपितु उञ्छं भावतो–ज्ञाताज्ञातमजल्पनशीलो धर्मलाभमात्राभिधायी चरेत्, तत्राप्यप्रासुकं–सचित्तं सन्मिश्रादि कथंचिद्गृहीतमपि न भुञ्जीत, तथा क्रीतमौद्देशिकाहृतं प्रासुकमपि न भुञ्जीत, एतद्विशोध्यविशोधिकोट्युपलक्षणमिति ॥ ३५७ ॥ संनिहिं चेति, सन्निधिं च प्राङ्निरूपितस्वरूपां न कुर्यादणुमात्रमपि–स्तोकमात्रमपि, संयतः–साधुः, तथा मुधाजीवीति पूर्ववत्, असम्बद्धः पद्मिनीपत्रोदकवद्गृहस्थैः, एवंभूतः सन् भवेत् जगन्निश्रितत्रसाचरसंरक्षणप्रतिबद्ध इति ॥ ३५८ ॥ किंच–लूहवित्ति, रूक्षैः–वल्लचनकादिभिर्वृत्तिरस्येति रूक्षवृत्तिः, सुसन्तुष्टो येन वा तेन वा सन्तोषगामी, अल्पेच्छो न्यूनोदरतया आहारपरित्यागी, सुभरः

रूक्षवृत्तिः स्यादित्यादि, तथा आसुरत्वं—स्यादल्पेच्छत्वादेव दुर्भिक्षादाविति फलं, प्रत्येकं वा स्यादिति क्रियायोगः,
क्रोधभावं न गच्छेत् क्वचित् स्वपक्षादौ श्रुत्वा जिनशासनं—क्रोधविपाकप्रतिपादकं वीतरागवचनं, जहा—" चउहिं ठाणेहिं
जीवा आसुरत्ताए कम्मं पकरिंति, तंजहा—कोहसीलयाए पाहुडसीलयाए जहा ठाणे जाव जं णं मए एस पुरिसे अण्णाणी
मिच्छादिट्ठी अक्कोसइ हणइ वा तं ण मे एस किंचि अवरज्झइत्ति, किं तु मम एयाणि वेयणिज्जाणि कम्माणि अवरज्झंतित्ति
सम्ममहियासमाणस्स निज्जरा एव भविस्सइ " त्ति ॥ ३५९ ॥ तथा कन्नत्ति, कर्णसौख्यहेतवः—कर्णसौख्याः शब्दा—
वेणुवीणादिसम्बन्धिनः तेषु प्रेम—रागं नाभिनिवेशयेत्—न कुर्यादित्यर्थः, तथा दारुणमनिष्टं कर्कशं—कठिनं स्पर्श-
मुपनतं सन्तं कायेनाधिसहेत्, न तत्र द्वेषं कुर्यात्, इत्यनेनाद्यन्तयो रागद्वेषनिराकरणेन सर्वेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषप्रतिषेधो
वेदितव्य इति ॥ ३६० ॥ किंच—खुहंत्ति, क्षुधं—बुभुक्षां, पिपासां—तृषं, दुःशय्यां—विषमभूम्यादिरूपां, शीतोष्णं—
प्रतीतं, अरतिं—मोहनीयोद्भवां, भयं—व्याघ्रादिसमुत्थमतिसहेदेतत्सर्वमेव अव्यथितोऽदीनमनाः सन्, देहे दुःखं
महाफलं संचिन्त्येति वाक्यशेषः, तथा च शरीरे सत्येतद्दुःखं, शरीरं चाऽसारं, सम्यगतिसह्यमानं च मोक्षफलमेवेदमिति
॥ ३६१ ॥ किंच—अत्थंति, अस्तं गते आदित्ये—अस्तपर्वतं प्राप्ते अदर्शनीभूते वा पुरस्तात् चानुद्गते—प्रत्यूषस्यनुदित
इत्यर्थः, आहारात्मकं सर्व्वं—निरवशेषमाहारजातं मनसापि न प्रार्थयेत् किमङ्ग पुनर्वाचा कर्मणा वेति ॥ ३६२ ॥

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मिआसणे । हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ ३६३ ॥

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे । सुअलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सिबुद्धीए ॥ ३६४ ॥

से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मिअं पयं। संवरे खिप्पमप्पाणं, बीअं तं न समायरे ॥ ३६५ ॥
अणायारं परक्कम्म, णेव गूहे न निण्हवे। सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए ॥ ३६६ ॥
अमोहं वयणं कुज्जा, आयरियस्स महप्पणो। तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥ ३६७ ॥
अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया। विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिअप्पणो ॥ ३६८ ॥
बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो। खित्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥ ३६९ ॥
जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई। जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ३७० ॥
कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं। वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो ॥ ३७१ ॥
कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो। माया मित्ताइं(णि) नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३७२॥
उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे। मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥ ३७३ ॥

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ ३७४ ॥

अतिन्तिनो नामालाभेऽपि नेपद्यत्किञ्चन-
दिवाप्यलभ्यमानेऽप्याहारे किमित्याह—अतिंतिणेत्ति, अतिन्तिनो भवेत्, तथा मिताशनः—मितभोक्ता
भापी, तथा अचपलो भवेत्—सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः, तथा अल्पभाषी—कारणे परिमितवक्ता, तथा मिताशनः—मितभोक्ता
भवेदित्येवंभूतो भवेत्, तथोदरेदान्तो येन वा तेन वा वृत्तिशीलः, तथा स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत्—देयं दातारं वा
न हेलयेदिति ॥ ३६३ ॥ मदवर्जनार्थमाह—न बाहिरंति, न बाह्यमात्मनोऽन्यं परिभवेत्तथाऽऽत्मानं न समुत्कर्षयेत्,
सामान्येनेत्थंभूतोऽहमिति, श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत, पण्डितो लब्धिमानहं इत्येवं तथा जात्या तपस्त्वेन बुद्ध्या वा
न माद्येतेति वर्त्तते, जातिसम्पन्नः तपस्वी बुद्धिमान् अहमित्येवं, उपलक्षणं चैतत्कुलबलरूपाणां, कुलसम्पन्नो बलसम्पन्नोऽहं,
रूपसम्पन्नोऽहमित्येवं न माद्येदिति ॥ ३६४ ॥ ओघत आभोगानाभोगसेवितार्थमाह—सेति, स—साधुः जानन्नजानन्वा—
आभोगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः, कृत्वा आधार्मिकं पदं कथञ्चिद्रागद्वेषाभ्यां मूलोत्तरगुणविराधनमिति भावः, संवरेत्क्षि-
प्रमात्मानं भावतो निवृत्त्या(निवर्त्त्या)लोचनादिना प्रकारेण, तथा द्वितीयं पुनस्तत्र समाचरेदनुबन्धदोषादिति ॥३६५॥
एतदेवाह—अणायारं ति, अनाचारं—सावद्ययोगं पराक्रम्य—आसेव्य गुरुसकाशे आलोचयन्न निगूहेत—न निह्नुवीत,
तत्र गूहनं—किञ्चित्कथनं, निह्नव—एकान्तापलापः, किंविशिष्टः सन्नित्याह—शुचिः—अकलुषमतिः सदा विकटभावः—प्रकट-
भावः, असंसक्तः—अप्रतिबद्धः क्वचिज्जितेन्द्रियो—जितेन्द्रियप्रमादः सन्निति ॥ ३६६ ॥ तथा—अमोहंति, अमोघं—
अवन्ध्यं वचनमिदं कुर्वित्यादिरूपं कुर्यादित्येवमित्यभ्युपगमेन, केषामित्याह—आचार्याणां महात्मनां श्रुतादिभिर्गुणैः,
तत्परिगृह्य वाचा एवमित्यभ्युपगमेन कर्मणोपपादयेत्—क्रियया सम्पादयेदिति ॥ ३६७ ॥ तथा अध्रुवंति, अध्रुवं—

अनित्यं मरणाशङ्कि जीवितं सर्वभावनिबन्धनं ज्ञात्वा, तथा सिद्धिमार्गं-सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणं विज्ञाय विनिवर्तेत भोगेभ्यो बन्धैकहेतुभ्यः, तथाऽध्रुवमप्यायुः परिमितं संवत्सरशतादिमानेन विज्ञायात्मनो विनिवर्तेत भोगेभ्य इति ॥३६८॥ बलं थामंति, (बलं-शारीरिकं स्थाम-इस्तादिविशेषोत्थं पेहाए प्रेक्ष्य श्रद्धामारोग्यं आत्मनः, क्षेत्रं "निवखलुपाणथंडिल्ले"त्यादि १२ गुणोपेतं विज्ञायात्मनः (कालं-योवनादिवयोरूपं) नियोजयेद्धर्मे ॥ ३६९ ॥ वृहल्लघुवृत्त्योरव्याख्याता अन्यकृतेति) उपदेशाधिकारे प्रकान्ते इदमेव समर्थयन्नाह-जरत्ति, जरा-वयोहानिलक्षणा यावन्न पीडयति, व्याधिः-क्रियासामर्थ्यशत्रुर्यावन्न वर्द्धते, यावदिन्द्रियाणि-क्रियासामर्थ्योपकारीणि श्रोत्रादीनि न हीयन्ते तावदत्रान्तरे प्रस्ताव इतिकृत्वा धर्मं समाचरेच्चारित्रधर्ममिति ॥ ३७० ॥ तदुपायमाह-कोहंति, क्रोधं मानं च मायां च, लोभं च पापवर्धनं, सर्वे एते पापहेतव इति पापवर्द्धनव्यपदेशः, यदर्थेवमतो वमेच्चतुरो दोषान् एतानेव क्रोधादीन् हितमिच्छन्नात्मनः, एतद्वमने हि सर्वसम्पदिति ॥ ३७१ ॥ अवमने त्विह लोके एवापायमाह-कोहत्ति, क्रोधः-प्रीतिं प्रणाशयति, क्रोधान्धवचनतस्तदुच्छेददर्शनात्, मानो-विनयनाशनः, अवलेपेन मूर्खतया तदकरणोपलब्धेः, माया-मित्राणि नाशयति, कौटिल्यवर्तिनस्त्यागदर्शनात्, लोभः-सर्वविनाशनः, तस्त्वतस्त्रयाणामपि तद्भावभावित्वादिति ॥ ३७२ ॥ यत एवमतः-उवसमेणंति, उपशमेन-क्षान्तिरूपेण हन्यात्क्रोधं, उदयनिरोधोदयप्राप्तविफलीकरणेन, एवं मानं मार्दवेन-अनुत्सु(च्छ्रि)ततया जयेत्, उदयनिरोधादिनैव, मायां चार्जवभावेनाशठतया जयेदुदयनिरोधादिनैव, एवं लोभं सन्तोषतः निःस्पृहत्वेन जयेत्तदुदयनिरोधोदयप्राप्तविफलीकरणेनेति ॥ ३७३ ॥ क्रोधादीनामेव परलोकापाय-

माह–कोहत्ति, क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ–उच्छृङ्खलौ, माया च लोभश्च विवर्धमानौ–वृद्धिं गच्छन्तौ, चत्वार एते क्रोधादयः कृत्स्नाः–सम्पूर्णाः, कृष्णा वा–क्लिष्टाः कषायाः सिञ्चन्त्यशुभभावजलेन मूलानि तथाविधकर्म्मरूपाणि पुनर्भवस्य–पुनर्जन्मतरोरिति ॥ ३७४ ॥

रायणिएसु विणयं पउंजे, धुवसीलयं समयं न हावइज्जा ।
कुम्मुव अल्लीणपलीणगुत्तो, परक्कमिज्जा तवसंजमंमि ॥ ३७५ ॥

निद्दं च न बहु मन्निज्जा, सप्पहासं विवज्जए। मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायंमि रओ सया ॥ ३७६ ॥
जोगं च समणधम्मंमि, जुंजे अणलसो धुवं। जुत्तो य समणधम्मंमि, अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥ ३७७ ॥
इहलोगपारत्तहिअं, जेणं गच्छइ सुग्गइं । बहुस्सुयं पज्जुवासिज्जा, पुच्छिज्जत्थविणिच्छयं ॥ ३७८ ॥
हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए । अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ॥ ३७९ ॥
न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ । न य ऊरुं समासिज्जा, चिट्ठिज्जा गुरुणंतिए ॥ ३८० ॥
अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अंतरा। पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥ ३८१ ॥
अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो। सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहियगामिणिं॥ ३८२ ॥

दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं । अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥ ३८३ ॥
आयारपन्नत्तिधरं, दिट्ठिवायमहिज्जगं । वायविक्खलिअं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥ ३८४ ॥

यत एवमतः कषायनिग्रहार्थमिदं कुर्यादित्याह–रायणिएत्ति, रत्नाधिकेषु–चिरदीक्षितादिषु विनयं–अभ्युत्थानादिरूपं प्रयुञ्जीत, तथा ध्रुवशीलतां–अष्टादशशीलाङ्गसहस्रपालनरूपां, सततं–अनवरतं यथाशक्त्या न हापयेत्, तथा कूर्म इव–कच्छप इव आलीनप्रलीनगुप्तः अङ्गोपाङ्गानि सम्यक्संयम्येत्यर्थः, पराक्रमेत–प्रवर्तेत तपःसंयमे–तपः-प्रधाने संयमे इति ॥ ३७५ ॥ किं च–निद्दं चेति, निद्रां च न बहु मन्येत न प्रकामशायी स्यात्, सप्रहासं च–अतीव-प्रहासरूपं विवर्जयेत्, मिथःकथासु–राहस्यिकीषु न रमेत, स्वाध्याये–वाचनादौ रतः सदा, एवंभूतो भवेदिति ॥३७६॥ तथा–जोगं चेति, योगं च त्रिविधं–मनोवाक्कायव्यापारं श्रमणधर्मे–क्षान्त्यादिलक्षणे युञ्जीत अनलसः–उत्साहवान्, ध्रुवं–कालाद्यौचित्येन नित्यं सम्पूर्णं सर्वत्र प्रधानोपसर्जनभावेन वा, अनुप्रेक्षाकाले मनोयोगं, अध्ययनकाले वाग्योगं प्रत्युपेक्षणाकाले काययोगमिति, फलमाह–युक्त एवं व्यापृतः श्रमणधर्मे दशविधे अर्थं लभते–प्राप्नोत्यनुत्तरं भावार्थं ज्ञानादिरूपमिति ॥ ३७७ ॥ एतदेवाह–इहलोएत्ति, इहलोकपरत्रहितमिहाकुशलप्रवृत्तिदुःखनिरोधेन परत्र कुशलानुबन्धतः, उभयलोकहितमित्यर्थः, येनार्थेन ज्ञानादिना करणभूतेन गच्छति सुगतिं, पारम्पर्येण सिद्धिमित्यर्थः, उपदेशाधिकारे उक्तव्यतिकरसाधनोपायमाह–बहुश्रुतं–आगमवृद्धं पर्युपासीत–सेवेत, सेवमानश्च पृच्छेदर्थविनिश्चयमपाय-रक्षकं कल्याणावहं वाऽर्थावितथभावमिति ॥ ३७८ ॥ पर्युपासीनश्च–हत्थंति, हस्तं पादं च कायं च प्रणिधायेति

संयम्य जितेन्द्रियो निभृतो भूत्वा आलीनगुप्तो निषीदेत्, ईषल्लीन उपयुक्त इत्यर्थः, सकाशे गुरोर्मुनिरिति ॥३७९॥ किं च-न पक्खउत्ति, न पक्षतः-पार्श्वतः, न पुरतो-ऽग्रतो नैव कृत्यानामाचार्याणां पृष्ठतो मार्गतो निषीदेदिति वर्त्तते, यथासंख्यमविनयवन्दमानान्तरायादर्शनादिदोषप्रसङ्गात्, न चोरुं समाश्रित्योरोरुपर्यूरुं कृत्वा तिष्ठेद्गुर्वन्तिके, अविनयादिदोषप्रसङ्गादिति ॥ ३८० ॥ उक्तः कायप्रणिधिर्वाक्प्रणिधिमाह-अपुच्छिउत्ति, अपृष्टो निष्कारणं न भाषेत, भाषमाणस्य चान्तरेण न भाषेत, नेदमित्थं किं तर्ह्येवमिति, तथा पृष्ठिमांसं परोक्षदोषकीर्त्तनरूपं न खादेत् न भाषेत, मायामृषां-मायाप्रधानां मृषावाचं विवर्जयेदिति ॥ ३८१ ॥ किंच-अप्पत्तियन्ति, अप्रीतिर्येन स्यादिति प्राकृतशैल्या येनेति-यया भाषया भाषितया अप्रीतिमात्रं भवेत्, तथा आशु-शीघ्रं, कुप्येद्वा परो रोपकार्यं दर्शयेत्, सर्वशः-सर्वावस्थासु तामित्थंभूतां न भाषेत भाषां, अहितगामिनीमुभयलोकविरुद्धामिति ॥ ३८२ ॥ भाषणोपायमाह-दिट्ठंति, दृष्टां-दृष्टार्थविषयां मितां-स्वरूपप्रयोजनाभ्यामसंदिग्धां-निःशंकितां प्रतिपूर्णां स्वरादिभिर्व्यक्तां-अलक्षां जितां परिजि(चि)ताम् अजल्पनशीलां नोच्चैर्लग्नविलग्नामनुद्विग्नां-नोद्वेगकारिणीमेवंभूतां भाषां निसृजेत् ब्रूयादात्मवान् सचेतन इति ॥ ३८३ ॥ प्रस्तुतोपदेशाधिकार एवेदमाह-आयारेति, आचारप्रज्ञप्तिधरमिति आचारधरः स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवंभूतं, तथा दृष्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारादिवेदिनं वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा विविधमनेकैः प्रकारैः लिंगभेदादिभिः स्खलितं विज्ञाय न तमाचारादिधरमुपहसेन्मुनिः, अहो नु खल्वाचारादिधरस्य वाचि कौशलमित्येवं, इह च दृष्टिवादमधीयानमित्युक्तमत इदं गम्यते नाधीतदृष्टिवादं, तस्य ज्ञानाप्रमादातिशयतः

स्खलनाऽसम्भवात्, यद्येवंभूतस्यापि स्खलितं सम्भवति न चैनमित्युपहसेदित्युपदेशस्ततोऽन्यस्य सुतरां सम्भवति, नासौ हसितव्य इति ॥ ३८४ ॥

नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंतभेसजं । गिहिणो तं न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं ॥ ३८५ ॥
अन्नट्ठं पगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं । उच्चारभूमिसंपन्नं, इत्थीपसुविवज्जियं ॥ ३८६ ॥
विवित्ता य भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं । गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं ॥ ३८७ ॥
जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं । एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥ ३८८ ॥
चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकिअं । भक्खरंपिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ ३८९ ॥
हत्थपायपडिच्छिन्नं, कण्णनासविगप्पिअं । अवि वाससयं नारिं, बंभचारी विवज्जए ॥ ३९० ॥
विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीअं रसभोअणं । नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ३९१ ॥
अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविअपेहिअं । इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ३९२ ॥
विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए । अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पुग्गलाण उ ॥ ३९३ ॥
पोग्गलाणं परीणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा । विणीअतण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ॥ ३९४ ॥

किंच-नक्खत्तंति, गृहिणा पृष्टः सन् नक्षत्रं-अश्विन्यादि, स्वप्नं-शुभाशुभफलमनुभूतादि योगं-वशीकरणादि निमित्तमतीतादि मन्त्रं-वृश्चिकमन्त्रादि भेषजं-अतीसाराद्यौषधं, गृहिणां-असंयतानां तदेतन्नाचक्षीत, किंविशिष्ट-मित्याह-भूताधिकरणं पदमिति भूतानि-एकेन्द्रियादीनि संघट्टनादिनाऽधिक्रियन्तेऽस्मिन्निति, ततश्च तदप्रीतिपरिहारार्थ-मित्येवं ब्रूयात्-अनधिकारोऽत्र तपस्विनामिति ॥ ३८५ ॥ किंच अन्नट्ठंति, अन्यार्थं प्रकृतं न साधुनिमित्तमेव निवर्त्तितं, लयनं-स्थानं वसतिरूपं भजेत्-सेवेत, शयनासनमित्यन्यार्थं प्रकृतं संस्तारकपीठकादि सेवेतेत्यर्थः, एतदेव विशेष्यते-उच्चारभूमिसम्पन्नं-उच्चारप्रश्रवणादिभूमियुक्तं, तद्रहिते असकृत्तदर्थं निर्गमनादिदोषात्तथा स्त्रीपशुविवर्जितमिति, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितं रूपा(रूया)द्यालोकनादिरहितमिति ॥ ३८६ ॥ तदित्थंभूतं लयनं सेव-मानस्य धर्मकथाविधिमाह-विवित्ता यत्ति, विविक्ता च तदन्यसाधुभिर्विवर्जिता, चशब्दात्तथाविधभुजङ्गप्रायैकपुरुष-संयुक्ता भवेच्छय्या-वसत्यादि ततो नारीणां-स्त्रीणां न कथयेत्कथां, शङ्कादिदोषप्रसङ्गादौचित्यं विज्ञाय पुरुषाणां तु कथयेत्, अविविक्तायां नारीणामपीति, तथा गृहिसंस्तवं-गृहिपरिचयं न कुर्यात्तत्स्नेहादिदोषसम्भवात्, कुर्यात्सा-धुभिः सह संस्तवं-परिचयं, कल्याणमित्रयोगेन कुशलपक्षवृद्धिभावत इति ॥ ३८७ ॥ कथंचिद्गृहिसंस्तवभावेऽपि स्त्री-संस्तवो न कर्त्तव्य एवेत्यत्र कारणमाह-जहत्ति, यथा कुक्कुटपोतस्य-कुक्कुटशिशोर्नित्यं-सर्वकालं कुललतो मार्जाराद्भयं एवं ब्रह्मचारिणः साधोः स्त्रीविग्रहात्-स्त्रीशरीराद् भयं, विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति ॥ ३८८ ॥ यत-श्चैवमतः-चित्तभित्तिंति, चित्रभित्तिं-चित्रगतां स्त्रियं न निरीक्षेत-न पश्येत्, नारीं वा सचेतनामेव स्वलङ्कृतां,

उपलक्षणमेतदनलङ्कृतां च न निरीक्षेत, कथंचिद्दर्शनयोगेऽपि भास्करमिवादित्यमिव दृष्ट्वा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत्-द्रागेव निवर्त्तयेदिति ॥ ३८९ ॥ किं बहुना ? हत्थत्ति, हस्तपादप्रतिच्छिन्नां-प्रतिच्छिन्नहस्तपादां कर्णनासाविकृत्तामिति-निकृत्तकर्णनासामपि वर्षशतिकां नारीं, एवं वृद्धामपि किमङ्ग पुनस्तरुणीं ?, तां तु सुतरामेव, ब्रह्मचारी-चारित्रधनो महाधन इव तस्करान्विवर्जयेदिति ॥ ३९० ॥ अपिच-विभूसेति, विभूषा-वस्त्रादिराढा, स्त्रीसंसर्गः-येन केनचित्प्रकारेण स्त्रीसम्बन्धः, प्रणीतरसभोजनं-गलत्स्नेहरसाभ्यवहारः, एतत्सर्वमेव विभूषादि नरस्यात्मगवेषिणः-आत्महितान्वेषणपरस्य विषं तालपुटं यथा-तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमहितमिति ॥ ३९१ ॥ किंच-अंगपच्चंगेति, अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानमिति, अङ्गानि-शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि-नयनादीनि एतेषां संस्थानं-विन्यासविशेषं, तथा चारुशोभनं लपितप्रेक्षितं-लपितं-जल्पितं प्रेक्षितं-निरीक्षितं स्त्रीणां सम्बन्धि, तदङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानादि न निरीक्षेत-न पश्येत्, कुत इत्याह-कामरागविवर्द्धनमिति, एतद्धि निरीक्ष्यमाणं मोहदोषान्मैथुनाभिलापं वर्द्धयति, अत एवास्य प्राक् स्त्रीणां निरीक्षणप्रतिषेधात् गतार्थतायामपि प्राधान्यख्यापनार्थो भेदेनोपन्यास इति ॥ ३९२ ॥ किंच-विसएसुत्ति, विषयेषु-शब्दादिषु, मनोज्ञेषु-इन्द्रियानुकूलेषु, प्रेम-रागं नाभिनिवेशयेत्-न कुर्यात्, एवममनोज्ञेषु द्वेषं, आह-उक्तमेवेदं प्राक् "कन्नसोक्खेहीत्यादौ" (गा. ३६०) किमर्थं पुनरुपन्यास इति ?, उच्यते-कारणविशेषाभिधानेन विशेषोपलम्भार्थमिति, आह च-अनित्यमेव-परिणामानित्यतया तेषां-पुद्गलानां, तुशब्दात् शब्दादिविषयसम्बन्धिनामितियोगः, विज्ञाय-अवेत्य जिनवचनानुसारेण, किमित्याह-परिणामं-पर्यायान्तरापत्तिलक्षणं, ते हि मनोज्ञा अपि क्षणादमनोज्ञतया परिणमन्ति,

उत्तमं-प्रधानं प्राप्त इत्यर्थः, तामेव श्रद्धामप्रतिपतितया प्रवर्धमानामनुपालयेद्यत्नेन, क्वेत्याह-गुणेषु-मूलगुणादिलक्षणेषु आचार्यसंमतेषु-तीर्थकरादिबहुमतेषु, अन्ये तु श्रद्धाविशेषणमित्येतद्व्याचक्षते, तामेव श्रद्धामनुपालयेद्गुणेषु, किंभूतां-आचार्यसम्मतां, न तु स्वाग्रहकलङ्कितामिति ॥ ३९५ ॥ आचारप्रणिधिफलमाह-तवं चिमंति, तपश्चेदमनशनादिरूपं साधु लोकप्रतीतं संयमयोगं च-पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च स्वाध्यायादियोगं च-वाचनादिव्यापारं सदा-सर्वकालमधिष्ठाता-तपःप्रभृतीनां कर्तेत्यर्थः, इह च तपोऽभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाभिधानमिति । स एवंभूतः शूर इव-विक्रान्तभट इव सेनया-चतुरङ्गरूपया इन्द्रियकषायादिसेनया निरुद्धः सन् समाप्तायुधः-संपूर्णतपःप्रभृतिखड्गाद्यायुधः, अलं-अत्यर्थमात्मनो भवति, संरक्षणाये अलं च परेषां निवा(राक)रणायेति ॥ ३९६ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह-सज्झायत्ति, स्वाध्याय एव सद्ध्यानं स्वाध्यायसद्ध्यानं तत्र रतस्य-आसक्तस्य त्रातुः-स्वपरोभयत्राणशीलस्य अपापभावस्य-लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्धचित्तस्य तपसि-अनशनादौ यथाशक्त्या रतस्य विशुद्ध्यते अपैति, यदस्य मायोर्मलं-कर्ममलं पुराकृतं-जन्मान्तरोपात्तं, दृष्टान्तमाह-समीरितं-प्रेरितं, रूप्यमलमिव ज्योतिषा-अग्निनेति ॥ ३९७ ॥ ततश्च-से तारिसेत्ति, स तादृशः अनन्तरोदितगुणयुक्तः साधुर्दुःखसहः-परीषहजेता, जितेन्द्रियः-पराजितश्रोत्रेन्द्रियादिः, श्रुतेन युक्तो-विद्यावानित्यर्थः, अममः-सर्वत्र ममत्वरहितः, अकिञ्चनो-द्रव्यभावकिञ्चनरहितः, विराजते-शोभते, कर्मघने-ज्ञानावरणीयादिकर्ममेघे अपगते सति, निदर्शनमाह-कृत्स्नाभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमा इति यथा कृत्स्ने अभ्रपुटे कृष्णे वा अपगते सति चन्द्रमा विराजते शरदि, तद्वदयमपग-

तकर्म्मघनः समासादितकेवलालोको विराजते ॥ ३९८ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

इत्याचारप्रणिध्याख्यमष्टममध्ययनं समाप्तम् ॥



व्याख्यातमाचारप्रणिध्यध्ययनम् । अधुना विनयसमाध्याख्यमारभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरा-ध्ययने निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति, तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुक्तं, इह त्वाचारप्रणिहितो यथोचित-विनयसंपन्न एव भवतीत्येतदुच्यते । उक्तं च–" आयारपणिहाणंमि, से सम्मं वट्टई बुहे । णाणाईणं विणीए जे, मुक्खट्ठा निविगिच्छए ॥ १ ॥ " इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे (तिट्ठइ) ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥ ३९९ ॥

थंभा वेत्यादि, स्तम्भाद्वा मानाद्वा जात्यादिनिमित्तात् क्रोधाद्वा–अक्षान्तिलक्षणात्, मायाप्रमादादिति, मायातो–निकृतिरूपायाः प्रमादात्–निद्रादेः सकाशात्, किमित्याह–गुरोः सकाशे–आचार्यादेः समीपे विनयमासेवना-शिक्षादिभेदभिन्नं न शिक्षते–नोपादत्ते, तत्र स्तम्भात् कथमहं जात्यादिमान् जात्यादिहीनसकाशे शिक्षामीति, एवं क्रोधात्क-चिद्वितथकरणचोदितो रोषाद्वेति, मायातः 'शूलं मे बाधत' इत्यादिव्याजेन, प्रमादात् प्रक्रान्तोचितमनवबुद्ध्यमानो निद्रादि-व्यासक्तेन, स्तम्भादिक्रमोपन्यासश्चेत्थमेवामीषां विनयविघ्नहेतुतामाश्रित्य प्राधान्यख्यापनार्थः, तदेवं स्तम्भादिभ्यो गुरोः सकाशे

उत्तमं-प्रधानं प्राप्त इत्यर्थः, तामेव श्रद्धामप्रतिपतितया प्रवर्धमानामनुपालयेद्यत्नेन, क्वेत्याह-गुणेषु-मूलगुणादिलक्षणेषु आचार्यसंमतेषु-तीर्थकरादिबहुमतेषु, अन्ये तु श्रद्धाविशेषणमित्येतद्व्याचक्षते. तामेव श्रद्धामनुपालयेद्गुणेषु, किंभूतां-आचार्यसम्मतां, न तु स्वाग्रहकलङ्कितामिति ॥ ३९५ ॥ आचारप्रणिधिफलमाह-तवं चिमंति, तपश्चेदमनशनादिरूपं साधु लोकप्रतीतं संयमयोगं च-पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च स्वाध्यायादियोगं च-वाचनादिव्यापारं सदा-सर्वकालमधिष्ठाता-तपःप्रभृतीनां कर्त्तेत्यर्थः, इह च तपोऽभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाभिधानमिति । स एवंभूतः शूर इव-विक्रान्तभट इव सेनया-चतुरङ्गरूपया इन्द्रियकषायादिसेनया निरुद्धः सन् समाप्तायुधः-संपूर्णतपःप्रभृतिखड्गाद्यायुधः, अलं-अत्यर्थमात्मनो भवति, संरक्षणाये अलं च परेषां निरा(राक)रणायेति ॥ ३९६ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह-सज्झायत्ति, स्वाध्याय एव सद्ध्यानं स्वाध्यायसद्ध्यानं तत्र रतस्य-आसक्तस्य त्रातुः-स्वपरोभयत्राणशीलस्य अपापभावस्य-लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्धचित्तस्य तपसि-अनशनादौ यथाशक्त्या, रतस्य विशुद्ध्यते अपैति, यदस्य साधोर्मलं-कर्ममलं पुराकृतं-जन्मान्तरोपात्तं, दृष्टान्तमाह-समीरितं-प्रेरितं, रूप्यमलमिव ज्योतिषा-अग्निनेति ॥ ३९७ ॥ ततश्च-से तारिसेत्ति, स तादृश अनन्तरोदितगुणयुक्तः साधुर्दुःखसहः-परीषहजेता. जितेन्द्रियः-पराजितश्रोत्रेन्द्रियादिः, श्रुतेन युक्तो-विद्यावानित्यर्थः, अममः-सर्वत्र ममत्वरहितः, अकिञ्चनो-द्रव्यभावकिञ्चनरहितः, विराजते-शोभते, कर्म्मघने-ज्ञानावरणीयादिकर्ममेघे अपगते सति, निदर्शनमाह-कृत्स्नाभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमा इति यथा कृत्स्ने अभ्रपुटे कृष्णे वा अपगते सति चन्द्रमा विराजते शरदि, तद्वदसावपग-

तकर्मघनः समासादितकेवलालोको विराजते ॥ ३९८ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

इत्याचारप्रणिध्याख्यमष्टममध्ययनं समाप्तम् ॥



व्याख्यातमाचारप्रणिध्यध्ययनम् । अधुना विनयसमाध्याख्यमारभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति, तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुक्तं, इह त्वाचारप्रणिहितो यथोचितविनयसंपन्न एव भवतीत्येतदुच्यते । उक्तं च–" आयारपणिहाणंमि, से सम्मं वट्टई बुहे । णाणाईणं विणीए जे, मुक्खट्ठा निव्विगिच्छए ॥ १ ॥ " इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे (तिट्ठइ) ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥ ३९९ ॥

थंभा वेत्यादि, स्तम्भाद्वा मानाद्वा जात्यादिनिमित्तात् क्रोधाद्वा–अक्षान्तिलक्षणात्, मायाप्रमादादिति, मायातो–निकृतिरूपायाः प्रमादात्–निद्रादेः सकाशात्, किमित्याह–गुरोः सकाशे–आचार्यादेः समीपे विनयमासेवनाशिक्षादिभेदभिन्नं न शिक्षते–नोपादत्ते, तत्र स्तम्भात् कथमहं जात्यादिमान् जात्यादिहीनसकाशे शिक्षामीति, एवं क्रोधात्क्वचिद्वितथकरणचोदितो रोषाद्वेति, मायातः 'शूलं मे बाधत' इत्यादिव्याजेन, प्रमादात् प्रक्रान्तोचितमनवबुध्यमानो निद्रादिव्यासङ्गेन, स्तम्भादिक्रमोपन्यासश्चेत्थमेवामीषां विनयविघ्नहेतुतामाश्रित्य प्राधान्यख्यापनार्थः, तदेवं स्तम्भादिभ्यो गुरोः सकाशे

उत्तमं-प्रधानं श्राद्ध इत्यर्थः, तामेव श्रद्धामप्रतिपतितया प्रवर्धमानामनुपालयेद्यत्नेन, क्वेत्याह-गुणेषु-मूलगुणादिलक्षणेषु आचार्यसंमतेषु-तीर्थकरादिबहुमतेषु, अन्ये तु श्रद्धाविशेषणमित्येतद्व्याचक्षते, तामेव श्रद्धामनुपालयेद्गुणेषु, किंभूतां-आचार्यसम्मतां, न तु स्वाग्रहकलङ्कितामिति ॥ ३९५॥ आचारप्रणिधिफलमाह-तवं चिमंति, तपश्चेदमनशनादिरूपं साधु लोकप्रतीतं संयमयोगं च-पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च स्वाध्यायादियोगं च-वाचनादिव्यापारं सदा-सर्व-कालमधिष्ठाता-तपःप्रभृतीनां कर्तेत्यर्थः, इह च तपोऽभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेना भिधानमिति । स एवंभूतः शूर इव-विक्रान्तभट इव सेनया-चतुरङ्गरूपया इन्द्रियकषायादिसेनया निरुद्धः सन् समाप्तायुधः-संपूर्णतपःप्रभृतिखड्गाद्यायुधः, अलं-अत्यर्थमात्मनो भवति, संरक्षणायै अलं च परेषां निवा(रा)रणायेति ॥ ३९६ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह-सज्झायत्ति, स्वाध्याय एव सद्ध्यानं स्वाध्यायसद्ध्यानं तत्र रतस्य-आसक्तस्य त्रातुः-स्वपरोभयत्राणशीलस्य अपापभावस्य-लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्धचित्तस्य तपसि-अनशनादौ यथाशक्त्या, रतस्य विशुद्ध्यते अपैति, यदस्य साधोर्मलं-कर्ममलं पुराकृतं-जन्मान्तरोपात्तं, दृष्टान्तमाह-समीरितं-प्रेरितं, रूप्य-मलमिव ज्योतिषा-अग्निनेति ॥ ३९७ ॥ ततश्च-से तारिसेत्ति, स तादृश अनन्तरोदितगुणयुक्तः मापुर्दुःखसहः-परीषहजेता, जितेन्द्रियः-पराजितश्रोत्रेन्द्रियादिः, श्रुतेन युक्तो-विद्यावानित्यर्थः, अममः-सर्वत्र ममत्वरहितः, अकिञ्चनो-द्रव्यभावकिञ्चनरहितः, विराजते-शोभते, कर्मघने-ज्ञानावरणीयादिकर्ममेघे अपगते सति, निदर्शनमाह-कृत्स्नाभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमा इति यथा कृत्स्ने अभ्रपुटे कृष्णे वा अपगते सति चन्द्रमा विराजते शरदि, तद्वदसावपग-

तकर्म्मघनः समासादितकेवलालोको विराजते ॥ ३९८ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

इत्याचारप्रणिध्याख्यमष्टममध्ययनं समाप्तम् ॥



व्याख्यातमाचारप्रणिध्यध्ययनम् ॥ अधुना विनयसमाध्याख्यमारभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति, तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुक्तं, इह त्वाचारप्रणिहितो यथोचितविनयसंपन्न एव भवतीत्येतदुच्यते। उक्तं च–" आयारपणिहाणंमि, से सम्मं वट्टई बुहे। णाणाईणं विणीए जे, मुक्खट्ठा निविगिच्छए ॥ १ ॥ " इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे (तिट्ठइ)।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥ ३९९ ॥

थंभा वेत्यादि, स्तम्भाद्वा मानाद्वा जात्यादिनिमित्तात् क्रोधाद्वा–अक्षान्तिलक्षणात्, मायाप्रमादादिति, मायातो–निकृतिरूपायाः प्रमादात्–निद्रादेः सकाशात्, किमित्याह–गुरोः सकाशे–आचार्यादेः समीपे विनयमासेवनाशिक्षादिभेदभिन्नं न शिक्षते–नोपादत्ते, तत्र स्तम्भात् कथमहं जात्यादिमान् जात्यादिहीनसकाशे शिक्षामीति, एवं क्रोधात्कचिद्वितथकरणचोदितो रोषादेति, मायातः 'शूलं मे बाधते' इत्यादिव्याजेन, प्रमादात् प्रक्रान्तोचितमनवबुध्यमानो निद्रादिव्यासङ्गेन, स्तम्भादिक्रमोपन्यासश्चेत्थमेवामीषां विनयविघ्नहेतुतामाश्रित्य प्राधान्यख्यापनार्थः, तदेवं स्तम्भादिभ्यो गुरोः सकाशे

विनय न शिक्षते, अन्ये तु पठन्ति-गुरो सकाशे विनये न तिष्ठति-विनये न वर्त्तते, विनय नासेवत इत्यर्थः । इह च स एव तु स्तम्भादिर्विनयशिक्षाविघ्नहेतुस्तस्य जडमतेः, अभूतिभाव इति-अभूतेर्भावोऽभूतिभावः, असद्भाव इत्यर्थः, किमित्याह-वधाय भवति-गुणलक्षणभावप्राणविनाशाय भवति, दृष्टान्तमाह-फलमिव कीचकस्य-कीचको-वंशस्तस्य यथा फलं वधाय भवति, सति तस्मिंस्तस्य विनाशात्तद्वदिति ॥ ३९९ ॥

जे आवि मंदित्ति गुरु विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा ।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करंति आसायण ते गुरूणं ॥ ४०० ॥
पयईइ मंदावि हवंति एगे, डहरावि अ जे सुअबुद्धोववेआ ।
आयारमंतो गुणसुट्ठिअप्पा, जे हीलिआ सिहिरिव भास कुज्जा ॥ ४०१ ॥
जे आवि नागं डहरंति नच्चा, आसायए से अहिआय होइ ।
एवायरिअंपि हु हीलयंतो, निअच्छई जाइपहं खु मंदो ॥ ४०२ ॥
आसीविसो वावि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा ? ।
आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ॥ ४०३ ॥

जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा, आसीविसं वावि हु कोवइज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ४०४ ॥
सिया हु से पावय नो डहिज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विसं हालहलं न मारे, न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ४०५ ॥
जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे, सुत्तं व सिंहं पडिबोहइज्जा ।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ४०६ ॥
सिया हु सीसेण गिरिंपि भिंदे, सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्गं, न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ४०७ ॥
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ।
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥ ४०८ ॥

किंच—जे यावित्ति, ये चापि केचन द्रव्यसाधवोऽगम्भीराः, किमित्याह—मन्द इति गुरुं विदित्वा—क्षयोपशम-

वैचित्र्यात्- तन्त्रयुक्त्यालोचनाऽसमर्थः सत्प्रज्ञाविकल इति-स्वमाचार्यं ज्ञात्वा । तथा कारणान्तरस्थापितमप्राप्तवयसं-डह रोऽयं-अप्राप्तवयाः खल्वयं, तथा अल्पश्रुत इत्यनधीतागम इति विज्ञाय, किमित्याह-हीलयन्ति-सूयया असूयया वा खिंसयन्ति, सूयया अतिप्रज्ञः त्वं वयोवृद्धो बहुश्रुत इति, असूयया तु मन्दप्रज्ञस्त्वमित्याद्यभिदधति, मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमाना इति; गुरुर्न हीलनीय इति तत्त्वमन्यथाऽवगच्छन्तः कुर्वन्त्याशातनां-लघुतापादनरूपां ते-द्रव्यसाधवः गुरूणां-आचार्याणां, तत्स्थापनाया अबहुमानेन, एकगुर्वाशातनायां सर्वेषामाशातनेति बहुवचनं, अथवा कुर्वन्त्याशातनां स्वसम्यग्दर्शनादिभावापहासरूपां, ते गुरूणां सम्बन्धिनीं, तन्निमित्तत्वादिति ॥ ४०० ॥ अतो न कार्या हीलनेत्याह-पगईए त्ति, प्रकृत्या-स्वभावेन कर्मवैचित्र्यात् मन्दा अपि-सद्बुद्धिरहिता अपि भवन्त्येके-केचन वयोवृद्धा अपि, तथा डहरा अपि च-अपरिणता अपि च वयसा अन्ये अमन्दा भवन्तीति वाक्यशेषः, किंविशिष्टा इत्याह-ये श्रुतबुद्ध्युपपेतास्तदा सत्प्रज्ञावन्तः, श्रुतेन बुद्धिभावेन वा भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य अल्पश्रुता इति; सर्वथा आचारवन्तः-ज्ञानाद्याचारसमन्विताः गुणसुस्थितात्मानः-गुणेषु-संग्रहोपग्रहादिषु सुष्ठु-भावसारं स्थित आत्मा येषां ते तथाविधाः, न हीलनीयाः, ये हीलिताः-खिंसिताः शिखीव-अग्निरिवेन्धनसङ्घातं भस्मसात्कुर्युः-ज्ञानादिगुणसङ्घातमपनयेयुरिति ॥ ४०१ ॥ विशेषेण डहरहीलनादोषमाह-जे यावित्ति, यश्चापि कश्चिदज्ञो नागं-सर्पं, डहर इति-बाल इति, ज्ञात्वा-विज्ञाय आशातयति-कलिञ्चादिना कदर्थयति स-कदर्थ्यमानो नागः से-तस्य कदर्थकस्य-अहिताय भवति, भक्षणेन प्राणनाशनात्, एषः दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः-एवमाचार्यमपि कारणतोऽपरिणतमेव स्थापितं हीलयन् निर्गच्छति

जातिपन्थानं-द्वीन्द्रियादिजातिमार्गं मन्दः-अज्ञः, संसारे परिभ्रमतीति ॥ ४०२ ॥ अत्रैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्मह-
दन्तरमित्येतदाह-आसीत्ति, आशीविषश्चापि-सर्पोऽपि परं सुरुष्टः सन्-सुक्रुद्धः सन् किं जीवितनाशात्-मृत्योः
परं नु कुर्यात् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः, आचार्यपादाः पुनरप्रसन्ना हीलनया अनुग्रहेऽप्रवृत्ताः, किं कुर्वन्तीत्याह-अबोधिं-
निमित्तहेतुत्वेन मिथ्यात्वसंहतिं, तदाशातनया मिथ्यात्वबन्धात्, यतश्चैवमतश्चाशातनया गुरोर्नास्ति मोक्षः, अबोधि-
सन्तानसम्बन्धेनानन्तसंसारिकत्वादिति ॥ ४०३ ॥ किंच-जो पावगत्ति, यः पावकं-अग्निं ज्वलितं सन्तं अपक्रामेत्-
अवष्टभ्य तिष्ठति, आशीविषं वापि हि-भुजङ्गमं वापि हि कोपयेत्-रोषं ग्राहयेत्, यो वा विषं खादति जीवि-
तार्थी-जीवितुकामः एषोपमा-अपायप्राप्तिं प्रति एतदुपमानं, आशातनया कृतया गुरूणां सम्बन्धिन्या, तद्वदपायो
भवतीति ॥ ४०४ ॥ अत्र विशेषमाह-सिया हुत्ति, स्यात्-कदाचिन्मन्त्रादिप्रतिबन्धाद् असौ पावकः-अग्निः न
दहेत्-न भस्मसात्कुर्यात्, आशीविषो वा भुजङ्गो-वा कुपितो वा न भक्षयेत्-न खादयेत्, तथा स्यात्-कदाचि-
न्मन्त्रादिप्रतिबन्धादेव विषं हालाहलं-अतिरौद्रं न मारयेत्-न प्राणांस्त्याजयेत्, एवमेतत् कदाचिद्भवति, न चापि
मोक्षो गुरुहीलनया-गुरोराशातनया कृतया भवतीति ॥ ४०५ ॥ जो पव्वयंति, यः पर्वतं शिरसा-उत्तमाङ्गेन
भेत्तुमिच्छेत्, सुप्तं वा सिंहं गिरिगुहायां वा प्रतिबोधयेत्, यो वा ददाति शक्त्यग्रे प्रहरणविशेषाग्रे प्रहारं
हस्तेन, एषोपमाऽऽशातनया गुरूणामिति पूर्ववदिति ॥ ४०६ ॥ अत्र विशेषमाह-सिया हु त्ति, स्यात्-कदाचित्कश्चिद्वासु-
देवादिः प्रभावातिशयात्-शिरसा उत्तमाङ्गेन गिरिमपि-पर्वतमपि भिन्द्यात्, स्यान्मन्त्रादिसामर्थ्यात्सिंहः कुपितो

न भक्षयेत्, स्यादेवतानुग्रहादेनं भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रे प्रहारे दत्तेऽपि, एवमेतत्कदाचिद्भवति, न चापि मोक्षो गुरुहीलनया-गुरोराशातनया भवतीति ॥ ४०७ ॥ एवं पावकाद्याशातना अपेक्षा गुर्वाशातना महतीत्यतिशयप्रदर्शनार्थमाह-आयरिअपि-आचार्यपादाः पुनरप्रसन्ना इत्यादि पूर्वार्द्धे पूर्ववत्। यस्मादेवं तस्मादनाबाधसुखाभिकाङ्क्षी-मोक्षसुखाभिलाषी साधुर्गुरुप्रसादाभिमुखः-आचार्यादिप्रसादे उद्युक्तः सन् रमेत-वर्त्तेतेति ॥ ४०८ ॥

जहाऽऽहिअग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा, अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ ४०९ ॥
जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइअं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भो मणसा अ निच्चं ॥ ४१० ॥
लज्जा दया संजम बंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति, तेऽहं गुरू सययं पूजयामि ॥ ४११ ॥
जहा निसंते तवणच्चिमाली, पभासई केवल भारहं तु ।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए, विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥ ४१२ ॥

जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो, नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के, एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥ ४१३ ॥
महागरा आयरिया महेसी, समाहिजोगेसुयसीलबुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं, आराहए तोसइ धम्मकामी ॥ ४१४ ॥
सुच्चाण मेहावी सुभासियाइं, सुस्सूसए आयरियऽप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे, से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥ ४१५ ॥ ति बेमि ॥

इइ विणयसमाहीए पढमो उद्देसो समत्तो ९—१ ॥

केन प्रकारेणेत्याह—जहाऽऽहिअग्गित्ति—यथाऽऽहिताग्निः—कृतावसथादिर्ब्राह्मणो ज्वलनं—अग्निं नमस्यति, किंविशिष्टमित्याह—नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तमाहुतयो—घृतप्रक्षेपादिलक्षणा मन्त्रपदानि—अग्नये स्वाहा इत्येवमादीनि तैरभिषिक्तं—दीक्षासंस्कृतमित्यर्थः, एवं—अग्निमिवाचार्यमुपतिष्ठेत्—विनयेन सेवेत, किंविशिष्ट इत्याह—अनन्तज्ञानोपगतोऽपीति—अनन्तं स्वपरपर्यायापेक्षया वस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानं तदुपगतोऽपि सन्, किमङ्ग पुनरन्य इति ॥ ४०९ ॥ एतदेव स्पष्टयति—जस्सत्ति, यस्यान्तिके—यस्य समीपे धर्मपदानि—धर्मफलानि सिद्धान्तपदानि शिक्षेत—आदद्यात् तस्यान्तिके—

तत्समीपे,।रिमित्याह–वैनयिकं प्रयुञ्जीत–विनय एव वैनयिकं तत्कुर्यादितिभावः, कथमित्याह–सत्कारयेदभ्युत्थानादिना पूर्वोक्तेन युक्तः शिरसा–उत्तमाङ्गेन प्राञ्जलिः–प्रोद्गताञ्जलिः सन् कायेन–देहेन गिरा–वाचा मस्तकेन वन्दे इत्यादिरूपया मो इति शिष्यामन्त्रण मनसा च–भावप्रतिबन्धरूपेण नित्यं–सदैव सत्कारयेत्, न तु सूत्रग्रहणकाल एव, कुशलानुबन्धव्यवच्छेदप्रसङ्गादिति ॥ ४१० ॥ एव च मनसि कुर्यादित्याह–लज्जा दयेत्ति, लज्जा–अपवादभयरूपा दया–अनुकम्पा सयमः–पृथिव्यादिजीवविषयः, ब्रह्मचर्यं–विशुद्धतपोऽनुष्ठानं, एतच्चआदि विपक्षव्यावृत्त्या कुशलपक्षप्रवर्तकत्वेन कल्याणभागिनो–मोक्षभागिनो जीवस्य विशोधिस्थानं–कर्ममलापनयनस्थानं वर्त्तते, अनेन ये मां गुरव–आचार्याः सततं–अनवरत अनुशासयन्ति–कल्याणयोग्यतां नयन्ति, तानहमेवभूतान् गुरून् सततं पूजयामि, न,तेभ्योऽन्यः पूजार्ह इति ॥ ४११ ॥ इतश्चैते पूज्या इत्याह–जहत्ति, यथा निशान्ते–रात्र्यवसाने दिवस इत्यर्थः, तपन्नर्चिर्माली–सूर्यः प्रभासयति–उद्योतयति केवलं–सम्पूर्णं भारतं–भरतक्षेत्रं तुशब्दादन्यच्च क्रमेण, एवमर्चिर्मालीवाचार्यः श्रुतेन–आगमेन, शीलेन–परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च–स्वाभाविकया युक्तः सन् प्रकाशयति जीवादिभावानिति। एवं च वर्तमानः सुसाधुभिः परिवृतो विराजते सुरमध्य इव–सामानिकादिमध्यगत इव इन्द्र इति ॥ ४१२ ॥ जहचि, यथा शशी–चन्द्रः, कौमुदीयोगयुक्तः–कार्त्तिकपौर्णिमास्यामुदित इत्यर्थः, स एव विशेष्यते–नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा–नक्षत्रादिभिर्युक्त इति भावः, खे–आकाशे शोभते, किंविशिष्टे खे?, विमले अभ्रमुक्ते–अभ्रमुक्तमेवात्यन्तं विमल भवतीति ख्यापनार्थमेतत्, एवं चन्द्र इव गणी–आचार्यः, शोभते भिक्षुमध्ये–साधुमध्ये, अतोऽयं महत्त्वात्पूज्य इति ॥ ४१३ ॥ किंच–महागरा

आयरिएत्ति, महाकरा ज्ञानादिभावरत्नापेक्षया आचार्या महैषिणो–मोक्षैषिणः, कथं महैषिण इत्याह–समाधियोग-श्रुतशीलबुद्धिभिः समाधियोगैः–ध्यानविशेषैः श्रुतेन–द्वादशाङ्गाभ्यासेन शीलेन–परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च औत्पत्तिक्यादिरूपया, अन्ये तु व्याचक्षते–समाधियोगश्रुतशीलबुद्धीनां महाकरा इति। तानेवंभूतानाचार्यान् संप्राप्तुकामो-ऽनुत्तराणि ज्ञानादीन्याराधयेद्विनयकरणेन, न सकृदेव, अपि तु तोपयेत्–असकृत्करणेन तोषं ग्राहयेत् धर्मकामो-निर्जरार्थी, न तु ज्ञानादिफलापेक्षयेति ॥ ४१४॥ सोच्चाणंति, श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि–गुर्वाराधनफलाभिधायीनि, किमित्याह–सुश्रूषयेत्सदाऽऽचार्यानप्रमत्तो–निद्रादिविरहितस्तदाज्ञां कुर्वीतेत्यर्थः, य एवं गुरुसुश्रूपापरः स आराध्य गुणाननेकान् ज्ञानादीन् प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तरां, मुक्तिमित्यर्थः, अनन्तरं सुकुलादिपरम्परया वा॥४१५॥ ब्रवीमीति पूर्ववत्॥

इति विनयसमाधावुक्तः प्रथम उद्देशकः ९–१ ॥

विनयाधिकारवानेव द्वितीय उच्यते, तत्रेदमादिसूत्रं—

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुविंति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो य ॥ ४१६ ॥
एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो । जेण किर्त्ति सुयं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ॥४१७॥

मूलाउ इति, मूलादादिप्रबन्धात् स्कन्धप्रभवः–स्थुडोत्पादः, कस्येत्याह–द्रुमस्य–वृक्षस्य, ततः–स्कन्धात्सका-

तत्समीपे, किमित्याह–वैनयिकं प्रयुञ्जीत–विनय एव वैनयिकं तत्कुर्यादितिभावः, कथमित्याह–सत्कारभेदभ्युत्थानादिना पूर्वोक्तेन युक्तः शिरसा–उत्तमाङ्गेन प्राञ्जलिः–प्रोद्गताञ्जलिः सन् कायेन–देहेन गिरा–वाचा मस्तकेन वन्दे इत्यादिरूपया भो इति शिष्यामन्त्रणं मनसा च–भावप्रतिबन्धरूपेण नित्यं–सदैव सत्कारयेत्, न तु सूत्रग्रहणकाल एव, कुशलानुबन्ध-व्यवच्छेदप्रसङ्गादिति ॥ ४१० ॥ एवं च मनसि कुर्यादित्याह–लज्जा दयेत्ति, लज्जा–अपवादभयरूपा दया–अनुकम्पा संयमः–पृथिव्यादिजीवविषयः, ब्रह्मचर्यं–विशुद्धतपोऽनुष्ठानं, एतल्लज्जादि विपक्षव्यावृत्त्या कुशलपक्षप्रवर्तकत्वेन कल्याण-भागिनो–मोक्षभागिनो जीवस्य विशोधिस्थानं–कर्ममलापनयनस्थानं वर्तते, अनेन ये मां गुरव–आचार्याः सततं–अनवरतं अनुशासयन्ति–कल्याणयोग्यतां नयन्ति, तानहमेवंभूतान् गुरून् सततं पूजयामि, न तेभ्योऽन्यः पूजार्ह इति ॥ ४११ ॥ इतश्चैते पूज्या इत्याह–जहत्ति, यथा निशान्ते–रात्र्यवसाने दिवस इत्यर्थः, तपन्नर्चिर्माली–सूर्यः प्रभास-यति–उद्योतयति केवलं–सम्पूर्णं भारतं–भरतक्षेत्रं तुशब्दादन्यच्च क्रमेण, एवमर्चिर्मालीवाचार्यः श्रुतेन–आगमेन, शीलेन–परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च–स्वाभाविक्या युक्तः सन् प्रकाशयति जीवादिभावानिति। एवं च वर्तमानः सुसाधु-भिः परिवृतो विराजते सुरमध्य इव–सामानिकादिमध्यगत इव इन्द्र इति ॥ ४१२ ॥ जहचि, यथा शशी–चन्द्रः, कौमुदीयोगयुक्तः–कार्त्तिकपौर्णिमास्यामुदित इत्यर्थः, स एव विशेष्यते–नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा–नक्षत्रादिभिर्युक्त इति भावः, खे–आकाशे शोभते, किंविशिष्टे खे?, विमले अभ्रमुक्ते–अभ्रमुक्तमेवात्यन्तं विमलं भवतीति ख्यापनार्थमेतत्, एवं चन्द्र इव गणी–आचार्यः शोभते भिक्षुमध्ये–साधुमध्ये, अतोऽयं महत्त्वात्पूज्य इति ॥ ४१३ ॥ किंच–महाकरा

आयरिएत्ति, महाकरा ज्ञानादिभावरत्नापेक्षया आचार्या महैषिणो-मोक्षैषिणः, कथं महैषिण इत्याह-समाधियोग-श्रुतशीलबुद्धिभिः समाधियोगैः-ध्यानविशेषैः श्रुतेन-द्वादशाङ्गाभ्यासेन शीलेन-परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च औत्पत्तिक्यादिरूपया, अन्ये तु व्याचक्षते-समाधियोगश्रुतशीलबुद्धीनां महाकरा इति। तानेवंभूतानाचार्यान् संप्राप्तुकामो-ऽनुत्तराणि ज्ञानादीन्याराधयेद्विनयकरणेन, न सकृदेव, अपि तु तोषयेत्-असकृत्करणेन तोषं ग्राहयेत् धर्मकामो-निर्जरार्थी, न तु ज्ञानादिफलापेक्षयेति ॥ ४१४॥ सोच्चाणंति, श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि-गुर्वाराधनफलाभिधायीनि, किमित्याह-सुश्रूषयेत्सदाऽऽचार्यानप्रमत्तो-निद्रादिविरहितस्तदाज्ञां कुर्वीतेत्यर्थः, य एवं गुरुसुश्रूषापरः स आराध्य गुणाननेकान् ज्ञानादीन् प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तरां, मुक्तिमित्यर्थः, अनन्तरं सुकुलादिपरम्परया वा ॥४१५॥ ब्रवीमीति पूर्ववत्॥

इति विनयसमाधावुक्तः प्रथम उद्देशकः ९-१ ॥

विनयाधिकारवानेव द्वितीय उच्यते, तत्रेदमादिसूत्रं—

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुविंति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो य ॥ ४१६ ॥
एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो । जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ॥४१७॥

मूलाउ इति, मूलादादिप्रबन्धात् स्कन्धप्रभवः-स्थुडोत्पादः, कस्येत्याह-द्रुमस्य-वृक्षस्य, ततः-स्कन्धात्सका-

तत्समीपे, किमित्याह–वैनयिकं प्रयुञ्जीत–विनय एव वैनयिकं तत्कुर्यादिति भावः, कथमित्याह–सत्कारभेदभ्युत्थानादिना पूर्वोक्तेन युक्तः शिरसा–उत्तमाङ्गेन प्राञ्जलिः–प्रोद्गताञ्जलिः सन् कायेन–देहेन गिरा–वाचा मस्तकेन वन्दे इत्यादिरूपया भो इति शिष्यामन्त्रणं मनसा च–भावप्रतिबन्धरूपेण नित्यं–सदैव सत्कारयेत्, न तु सूत्रग्रहणकाल एव, अकुशलानुबन्धव्यवच्छेदप्रसङ्गादिति ॥ ४१० ॥ एवं च मनसि कुर्यादित्याह–लज्जा दयेत्ति, लज्जा–अपवादभयरूपा, दया–अनुकम्पा संयमः–पृथिव्यादिजीवविषयः, ब्रह्मचर्यं–विशुद्धतपोऽनुष्ठानं, एतल्लज्जादि विपक्षव्यावृत्त्या कुशलपक्षप्रवर्तकत्वेन कल्याणभागिनो–मोक्षभागिनो जीवस्य विशोधिस्थानं–कर्ममलापनयनस्थानं वर्तते, अनेन ये मां गुरव–आचार्याः सततं–अनवरतं अनुशासयन्ति–कल्याणयोग्यतां नयन्ति, तानहमेवंभूतान् गुरून् सततं पूजयामि, न तेभ्योऽन्यः पूजार्ह इति ॥ ४११ ॥ इत्थमेते पूज्या इत्याह–जहत्ति, यथा निशान्ते–रात्र्यवसाने दिवस इत्यर्थः, तपन्नर्चिर्माली–सूर्यः प्रभासयति–उद्योतयति केवलं–सम्पूर्णं भारतं–भरतक्षेत्रं तुशब्दादन्यच्च क्रमेण, एवमर्चिर्मालीवाचार्यः श्रुतेन–आगमेन, शीलेन–परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च–स्वाभाविक्या युक्तः सन् प्रकाशयति जीवादिभावानिति। एवं च वर्तमानः सुसाधुभिः परिवृतो विराजते सुरमध्य इव–सामानिकादिमध्यगत इव इन्द्र इति ॥ ४१२ ॥ जहत्ति, यथा शशी–चन्द्रः, कौमुदीयोगयुक्तः–कार्त्तिकपौर्णिमास्यामुदित इत्यर्थः, स एव विशेष्यते–नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा–नक्षत्रादिभिर्युक्त इति भावः, खे–आकाशे शोभते, किंविशिष्टे खे?, विमले अभ्रमुक्ते–अभ्रमुक्तमेवात्यन्तं विमलं भवतीति ख्यापनार्थमेतत्, एवं चन्द्र इव गणी–आचार्यः शोभते भिक्षुमध्ये–साधुमध्ये, अतोऽयं महत्वात्पूज्य इति ॥ ४१३ ॥ किंच–महागरा

भणनादिलक्षणेनापि अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, चोदित उक्तः, कुप्यति-रुष्यति नरः। अत्र निदर्शनमाह-दिव्यां-अमानुषीं, असौ-नरः श्रियं-लक्ष्मीं आगच्छन्तीं-आत्मनो भवन्तीं दण्डेन-काष्ठमयेन प्रतिषेधयति-निवारयति। एतदुक्तं भवति-विनयः संपदो निमित्तं, तत्र स्खलितं यदि कश्चिच्चोदयति स गुणः तत्रापि रोपकरणेन वस्तुतः संपदो निषेधः। उदाहरणं चात्र दशारादयः कुरूपागतश्रीप्रार्थनाप्रणयभङ्गकारिणस्तद्रहितास्तदभङ्गकारी च तद्युक्तः कृष्ण इति ॥ ४१९ ॥

तहेव अविणीयप्पा, उववज्झा हया गया। दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिया ॥ ४२० ॥

तहेव सुविणीयप्पा, उववज्झा हया गया। दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ४२१ ॥

अविनयदोषोपदर्शनार्थमेवाह-तहेवत्ति, तथैवेति-तथैवैते अविनीतात्मानो-विनयरहिता अनात्मज्ञाः, उपवाह्यानां-राजादिवल्लभानामेते कर्मकरा इत्यौपवाह्याः, हयाः-अश्वाः, गजाः-हस्तिनः, उपलक्षणमेतन्महिषकादीनामिति। एते किमित्याह-दृश्यन्ते-उपलभ्यन्ते, एव मन्दुरादौ अविनयदोषेणोभयलोकवर्त्तिना यवसादिवोढारः, दुःखं-संक्लेशलक्षणं एधमाना-अनेकार्थत्वादनुभवन्त आभियोग्यं-कर्म्मकरभावं उपस्थिताः-प्राप्ता इति ॥ ४२० ॥ एतेष्वेव विनयगुणमाह-तहेवत्ति, तथैव एते सुविनीतात्मानो-विनयवन्त आत्मज्ञा औपवाह्या-राजादीनां हया गजा इति पूर्ववत्। एते किमित्याह-दृश्यन्ते-उपलभ्यन्ते, एव सुखं-आह्लादलक्षणं, एधमाना-अनुभवन्तः ऋद्धिं प्राप्ता इति विशिष्टभूषणालयभोजनादिभावतः प्राप्तर्द्धयो महायशसो-विख्यातसद्गुणा इति ॥ ४२१ ॥

खात् पश्चात्–तदनु समुपयान्ति–आत्मानं प्राप्नुवन्त्युत्पद्यन्त इत्यर्थः, कास्ता इत्याह–शाखास्तद्भुजाकल्पाः, तथा शाखाभ्यः–उक्तलक्षणाभ्यः प्रशाखास्तदंशभूता विरोहन्ति–जायन्ते, तथा ताभ्योऽपि पत्राणि–पर्णानि विरोहन्ति। ततस्तदनन्तरं से–तस्य द्रुमस्य पुष्पं फलं च रसश्च फलगत एवैते क्रमेण भवन्तीति ॥ ४१६ ॥ एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह–एवंति, एवं–द्रुममूलवत्, धर्मस्य–परमकल्पवृक्षस्य विनयो मूलं–आदिप्रबन्धरूपं परम इत्युभो रसः से–तस्य फलरसवन्मोक्षः, स्कन्धादिकल्पानि तु देवलोकगमनसुकुलागमनादीनि, अतो विनयः कर्त्तव्यः, किंविशिष्ट इत्याह–येन–विनयेन कीर्तिं–सर्वत्र शुभप्रवादरूपां, तथा श्रुतं–अङ्गप्रविष्टादि श्लाघ्यं–प्रशंसास्पदीभूतं निःशेषं–संपूर्णं चाधिगच्छति–प्राप्नोतीति ॥ ४१७ ॥

जे य चण्डे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे। वुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ॥४१८॥
विणयंपि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो। दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं, दंडेण पडिसेहए ॥ ४१९ ॥

अविनयवतो दोषमाह–जे य ति, यश्च चण्डो–रोषणः मृगः–अज्ञो हितमप्युक्तो रुष्यति, तथा स्तब्धो–जात्यादिमदोन्मत्तो दुर्वादी–अप्रियवक्ता निकृतिमान्–मायोपेतः, शठः–संयमयोगेष्वनादृतः, एतेभ्यो दोषेभ्यो विनयं न करोति य उह्यते असौ पापः संसारस्रोतसा अविनीतात्मा–सकलकल्याणैकनिबन्धनविनयरहितः, किमिवेत्याह–काष्ठं स्रोतोगतं–नद्यादिवहनीपतितं यथा तद्वदिति ॥ ४१८ ॥ किं च विणयंपीति, विनयमुक्तलक्षणं च उपायेनापि–एकान्तमृदु-

तहेव सुविणीयप्पा, देवा जक्खा य गुज्झगा। दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ४२६ ॥

एतदेव विनयाविनयफलं देवानधिकृत्याह–तहेवत्ति, तथैव यथा नरनार्यः अविनीतात्मानो भवान्तरेऽकृतविनया
देवा–वैमानिका ज्योतिष्का यक्षाश्च–व्यन्तराश्च गुह्यका–भवनवासिनः, त एते दृश्यन्ते आगमभावचक्षुषा दुःखमेध-
मानाः–पराज्ञाकरणपरर्द्धिदर्शनादिना, आभियोग्यमुपस्थिताः–अभियोग–आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीति अभियोगी तद्भाव
आभियोग्यं, कर्मकरभावमित्यर्थः, उपस्थिताः–प्राप्ता इति ॥ ४२५ ॥ विनयफलमाह–तहेवत्ति, तथैवेति पूर्ववत्, सुविनी-
तात्मानो–जन्मान्तरकृतविनया निरतिचारधर्माराधका इत्यर्थः, देवा यक्षाश्च गुह्यका इति पूर्ववदेव, दृश्यन्ते सुखमेध-
माना अर्हत्कल्याणकादिषु ऋद्धिं प्राप्ता इति देवाधिपादिप्राप्तर्द्धयो महायशसो–विख्यातसद्गुणा इति ॥ ४२६ ॥

जे आयरियउवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा। तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥४२७॥

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, सिप्पा नेउणियाणि य। गिहिणो उवभोगट्ठा, इहलोगस्स कारणा ॥४२८॥

जेण बन्धं वहं घोरं, परियावं च दारुणं। सिक्खमाणा नियच्छंति, जुत्ता ते ललिइंदिया ॥ ४२९ ॥

तेवि तं गुरुं पूयंति, तस्स सिप्पस्स कारणा। सक्कारेंति नमंसंति, तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥ ४३० ॥

किं पुणो जे सुयग्गाही, अणंतहियकामए। आयरिया जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाइवत्तए ॥ ४३१ ॥

तहेव अविणीयप्पा, लोगंमि नरनारिओ । दीसंति दुहमेहंता, छाया विगलितेंदिया ॥ ४२२ ॥
दंडसत्थापरिज्जुण्णा, असब्भवयणेहि य । कलुणाविवन्नच्छंदा, खुप्पिवासाइपरिगया ॥ ४२३ ॥
तहेव सुविणीयप्पा, लोगंसि नरनारिओ । दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ४२४ ॥

एतदेव विनयाविनयफलं मनुष्यानधिकृत्याह-तहेवत्ति, तथैव तिर्यञ्च इव अविनीतात्मान इति पूर्ववत् । लोकेऽस्मिन्-मनुष्यलोके, नरनार्य इति प्रकटार्थं दृश्यन्ते दुःखमेधमाना इति पूर्ववत्, छाया(ताः)-कसघातव्रणाङ्कितशरीराः, विगलितेन्द्रियाः-अपनीतनासिकादीन्द्रियाः पारदारिकादय इति ॥ ४२२ ॥ तथा दंडत्ति, दण्डा-वेत्रदण्डादयः शस्त्राणि-खड्गादीनि ताभ्यां परिजीर्णाः-समन्ततो दुर्बलभावमापादिताः, तथा असभ्यवचनैश्च-खरकर्कशादिभिः परिजीर्णाः, च एवंभूताः सन्तः सतां करुणाहेतुत्वात् करुणा-दीना व्यापन्नाच्छन्दसः-परायत्ततया अपेतस्वाभिप्रायाः, क्षुधा-बुभुक्षया पिपासया-तृषा परिगता-व्याप्ता अन्नादिनिरोधस्तोकदानाभ्यामिति । एवं इह लोके प्राक्तनोपात्तकर्मानुभावत एवंभूताः परलोके तु कुशलाप्रवृत्तेः दुःखिततरा विज्ञायन्त इति ॥ ४२३ ॥ विनयफलमाह-तहेवत्ति, तथैव विनीततिर्यञ्च इव सुविनीतात्मानो लोकेऽस्मिन्नरनार्य इति पूर्ववत् । दृश्यन्ते सुखमेधमानाः ऋद्धिं प्राप्ता महायशस इति पूर्ववत्, नवरं स्वाराधितनृपगुरुजना उभयलोकसाफल्यकारिण एत इति ॥ ४२४ ॥

तहेव अविणीयप्पा, देवा जक्खा य गुज्झगा । दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिया ॥ ४२५ ॥

तथाऽनेकप्रकारं भिक्षुः-साधुः तस्मात्तदाचार्यवचनं नातिवर्त्तयत् युक्तत्वात्सर्वमेव सम्पादयेदिति ॥ ४३१ ॥

नीयं सेज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य। नीयं च पाए वंदेज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥४३२॥
संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि। खमेह अवराहं मे, वएज्ज न पुणोत्ति य ॥ ४३३ ॥
दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहई रहं। एवं दुबुद्धि किच्चाणं, वुत्तो वुत्तो पकुवई ॥ ४३४ ॥
कालं छंदोवयारं च, पडिलेहित्ता ण हेउहिं। तेण तेण उवाएणं, तं तं संपडिवायए ॥ ४३५ ॥

विनयोपायमाह-नीयंति, नीचां शय्यां-संस्तारकलक्षणामाचार्यशय्यायाः सकाशात् कुर्यादितियोगः, एवं नीचां गतिमाचार्यगतेस्तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुतं यायादित्यर्थः, एवं नीचं स्थानमाचार्यस्थानाद्यत्राचार्य आस्ते, तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमितिभावः। तथा नीचानि-लघुतराणि कदाचित्कारणजाते आसनानि-पीठकानि तस्मिन्नुपविष्टे तदनुज्ञातः सेवेत, नान्यथा, तथा नीचं च-सम्यगवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत, नावज्ञया तथा क्वचित्प्रश्नादौ नीचं-नम्रकायं कुर्याच्च सम्पादयेच्चाञ्जलिं, न तु स्थाणुवत्स्तब्ध एवेति ॥ ४३२ ॥ एवं कायविनयमभिधाय वाग्विनयमाह-संघट्ट-इत्ति, संघट्ट्य-स्पृष्ट्वा कायेन-देहेन कथञ्चित्तथाविधप्रदेशोपविष्टमाचार्यं तथोपधिनापि-कल्पादिना कथञ्चित्संघट्ट्य मिथ्यादुष्कृतपुरस्सरमभिवन्द्य क्षमस्व-सहस्वापराधं-दोषं मे मन्दभाग्यस्यैवं वदेत्-ब्रूयान्न पुनरिति न चाहमेनं भूयः करिष्यामीति ॥ ४३३ ॥ एतच्च सर्वं बुद्धिमान् स्वयमेव करोति, तदन्यस्तु कथमित्याह-दुग्गओवित्ति, दुर्गौरिव-

एवं नारकापोहेन व्यवहारतो येषु सुखदुःखसंभवस्तेषु विनयाविनयफलमुक्तं, अधुना विशेषतो लोकोत्तरविनयफलमाह–जे आयरियत्ति, ये आचार्योपाध्याययोः–प्रतीतयोः शुश्रूषावचनकराः–पूजाप्रधानवचनकरणशीलास्तेषां पुण्यभाजां शिक्षा–ग्रहणासेवनालक्षणा भावार्थरूपाः प्रवर्द्धन्ते–वृद्धिमुपयान्ति, दृष्टान्तमाह–जलसिक्ता इव पादपा–वृक्षा इति ॥ ४२७ ॥ एतच्च मनस्याधाय विनयः कार्य इत्याह–अप्पणट्ठत्ति, आत्मार्थं–आत्मनिमित्तं, अनेन मे जीविका भविष्यतीत्येवं, परार्थं वा–परनिमित्तं वा पुत्रमहमेतद्ग्राहयिष्यामीत्येवं, शिल्पानि–कुम्भकारक्रियादीनि नैपुण्यानि च–आलेख्यादिकलालक्षणानि गृहिणः–असंयताः, उपभोगार्थं–अन्नपानादिभोगाय, शिक्षन्त इति वाक्यशेषः, इहलोकस्य कारणं–इहलोकनिमित्तमिति ॥ ४२८ ॥ जे णं ति, येन–शिल्पादिना शिक्ष्यमाणेन बन्धं–निगडादिभिः वधं–कषादिभिर्घोरं–रौद्रं परितापं च, दारुणं–एतज्जनितमनिष्टं निर्भर्त्सनादिवचनजनितं च शिक्षमाणा गुरोः सकाशात् नियच्छन्ति–प्राप्नुवन्ति, युक्ता इति–नियुक्ताः शिल्पादिग्रहणे ते ललितेन्द्रिया–गर्भेश्वरा राजपुत्रादय इति ॥ ४२९ ॥ तेऽवि तमिति, तेऽपि इत्वर शिल्पादि शिक्षमाणास्तं गुरुं बन्धादिकारकमपि पूजयन्ति सामान्यतो मधुरवचनाभिनन्दनेन तस्य शिल्पस्येत्वरस्य कारणात्, तन्निमित्तत्वादिति भावः, तथा सत्कारयन्ति वस्त्रादिना, नमस्यन्ति अञ्जलिग्रहणादिना। तुष्टा इत्यमुत इदमवाप्यत इति हृष्टा निर्देशवर्तिनः–आज्ञाकारिण इति ॥ ४३० ॥ यदि तावदेतेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति अतः–किं पुनन्ति, किं पुनः यः–साधुः श्रुतग्राही–परमपुरुषप्रणीतागमग्रहणाभिलाषी अनन्तहितकामुको मोक्षं यः कामयत इत्यभिप्रायस्तेन तु सुतरां गुरवः पूजनीया इति, यतस्तैरमाचार्या यद्वदन्ति किमपि

विणयसमाहीए बीओ उद्देसओ समत्तो ९-२ ॥

किंच-विवत्तित्ति, विपत्तिरविनीतस्य ज्ञानादिगुणानां, संप्राप्तिर्विनीतस्य च ज्ञानादिगुणानामेव, यस्यैतत्-ज्ञानादिप्राप्त्यप्राप्तिद्वयं उभयत-उभयाभ्यां विनयाविनयाभ्यां सकाशाद्भवतीत्येवं ज्ञातं-उपादेयं चैतदिति भवति शिक्षां-ग्रहणासेवनारूपामसावित्थंभूतोऽभिगच्छति-प्राप्नोति, भावत उपादेयपरिज्ञानादिति ॥ ४३६ ॥ एतदेव दृढयन्नविनीत-फलमाह-जे यावित्ति, यश्चापि चण्डः प्रव्रजितोऽपि यो रोषणः मतिऋद्धिगौरव इति ऋद्धिगौरवमतिगौरवे अभिनिविष्टः पिशुनः-पृष्ठिमांसखादको नरो-नरव्यञ्जनो न भावनरः साहसिकः-अकृत्यकरणपरः हीनप्रेषणो-हीनगुर्वाज्ञापरः अदृष्टधर्म्मा-सम्यगनुपलब्धश्रुतादिधर्मा विनयेऽकोविदो-विनयविषयेऽपण्डितः असंविभागी-यत्र क्वचन लाभे न संविभागवान्, य इत्थंभूतोऽधमो नैव तस्य मोक्षः, सम्यग्दृष्टेश्चारित्रवत इत्थंविधसंक्लेशाभावादिति ॥ ४३७ ॥ विनयफला-भिधानोपसंहरन्नाह-णिद्देसवत्तित्ति, निर्देशवर्त्तिनः-आज्ञावर्त्तिनः पुनर्ये गुरूणां-आचार्यादीनां श्रुतार्थधर्म्मा इति प्राकृतशैल्या श्रुतधर्मार्था गीतार्था इत्यर्थः, विनये कर्त्तव्ये कोविदा-विपश्चितः, य इत्थंभूतास्तीर्त्वा ते महासत्त्वा ओघमेनं-प्रत्यक्षोपलभ्यमानं संसारसमुद्रं दुरुत्तारं तीर्त्त्वेव तीर्त्वा, चरमभवं केवलित्वं च प्राप्येतिभावः, ततः क्षपयित्वा कर्म निरवशेषं भवोपग्राहिसंज्ञितं गतिमुत्तमां सिद्धाख्यां गताः-प्राप्ताः ॥४३८॥ इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

विनयसमाधौ व्याख्यातो द्वितीय उद्देशकः ९-२ ॥

गलिबलीवर्दवत् प्रतोदेन-आरादण्डलक्षणेन चोदितो-विद्धः सन्वहति-नयति क्वापि रथं प्रतीतं, एव दृग्गीरिव दुर्बुद्धिः-अहितावहबुद्धिः शिष्यः कृत्यानां आचार्यादीनां कृत्यानि वा तदभिरुचितकार्याणि उक्त उक्तः-पुनः पुनरभिहित इत्यर्थः, प्रकरोति-निष्पादयति प्रयुङ्क्ते चेति ॥ ४३४ ॥ एवं च हवान्यप्यमूनि न शोभनान्यत आह-कालेति, कालं-शरदादिलक्षणं छन्दस्तदिच्छारूपं उपचारं-आराधनाप्रकार, चशब्दाद्देशादिपरिग्रहः, एतत्प्रत्युपेक्ष्य-ज्ञात्वा हेतुभिः-यथानुरूपैः कारणैः किमित्याह-तेन तेनोपायेन-गृहस्थावर्जनादिना तत्तत्पित्तहरादिरूपमशनादि सम्प्रतिपादयेत्, यथा कालेऽपि शरदादौ पित्तहरादिभोजनं प्रवातनिवातादिरूपा शय्या इच्छानुलोमं वा यदस्य हितं रोचते च आराधनाप्रकारोऽनुलोमं भाषणं ग्रन्थाभ्यासवैयावृत्त्यकरणादि देशे अनूपदेशाद्युचितं निष्ठीवनादिभिर्हेतुभिः श्लेष्माद्याभिरूपं विज्ञाय तदुचितं सम्पादयेदिति ॥ ४३५ ॥

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य। जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ ४३६ ॥

जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे, पिसुणे नरे साहसहीणपेसणे ।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए, असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥ ४३७ ॥
निद्देसवित्ती पुण जे गुरूणं, सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया ।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय ॥ ४३८ ॥ त्तिबेमि ॥

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया, अओमया तेऽवि तओ सुउद्धरा ।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ४४५ ॥

वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ४४५ ॥ इत्युपदर्शयन्नाह–आयरिएत्ति, आचार्यं–सूत्रार्थप्रदं तत्स्थानीयं
साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, इह च विनीतः पूज्य इत्युपदर्शयन्नाह–आयरिएत्ति, आचार्यं–सूत्रार्थप्रदं तत्स्थानीयं
वाऽन्यं ज्येष्ठार्यं, किमित्याह–अग्निमिव–तेजस्कायमिव आहिताग्निः–ब्राह्मणः सुश्रूषयन्–सम्यक् सेवमानः प्रतिजा-
गृयात्तत्कृत्यसम्पादनेनोपचरेत् । आह–यथाऽऽहिताग्निरित्यादिना प्रागिदमुक्तमेव, सत्यं, किं तु तदाचार्यमेवाङ्गीकृत्य
इदं तु रत्नाधिकमप्यधिकृत्योच्यते, वक्ष्यति च–"रायणिएसु विणयमि"त्यादि, प्रतिजागरणोपायमाह–अवलोकितं–निरी-
क्षितं इङ्गितमेव च–अन्यथावृत्तिलक्षणं ज्ञात्वा–विज्ञायाचार्यीयं यः–साधुः छन्दः—अभिप्रायमाराधयति । यथा शीते
पतति प्रावरणावलोकने तदानयने, इङ्गिते वा निष्ठीवनादिलक्षणे शुण्ठ्याद्यानयनेन स पूज्यः स इत्थंभूतः साधुः पूजार्हः–
कल्याणभागिति ॥ ४३९ ॥ प्रक्रान्ताधिकार एवाह–आयारेत्ति, आचारार्थं–ज्ञानाद्याचारनिमित्तं विनयमुक्तलक्षणं
प्रयुङ्क्ते–करोति यः सुश्रूषन्–श्रोतुमिच्छन्, किमयं वक्ष्यतीत्येवं, तदनु तेनोक्ते सति परिगृह्य वाक्यमाचार्यीयं,
ततश्च यथोपदिष्टं–यथोक्तमेवाभिकाङ्क्षन्, मायारहितः श्रद्धया कर्तुमिच्छन् सन् विनयं प्रयुङ्क्ते, अतोऽन्यथाकरणेन
गुरुं त्विति, आचार्यमेव नाशातयति–न हीलयति यः स पूज्य इति ॥ ४४० ॥ किंच–राइणिएत्ति, रत्नाधिकेषु–
ज्ञानादिभावरत्नाभ्यधिकेषु विनयं–यथोचितं प्रयुङ्क्ते करोति, तथा डहरा अपि च ये वयःश्रुताभ्यां पर्यायज्येष्ठाश्चिर-
प्रव्रजितास्तेषु विनयं प्रयुङ्क्ते, एवं नीचत्वे गुणाधिकान् प्रति नीचभावे वर्त्तते, सत्यवादी–अविरुद्धवक्ता तथा

आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी, सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा ।
आलोइयं इंगियमेव नच्चा, जो छंदमाराहयई स पुज्जो ॥ ४३९ ॥
आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो, गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥ ४४० ॥
रायणिएसु विणयं पउंजे, डहरावि य जे परियायजिट्ठा ।
नीयत्तणे वट्टइ सच्चवाई, उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ ४४१ ॥
अन्नायउंछं चरई विसुद्धं, जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवइज्जा, लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥ ४४२ ॥
संथारसेज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभेऽवि संते ।
जो एवमप्पाणभितोसइज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥ ४४३ ॥
सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहिज्ज कंटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥ ४४४ ॥

क्रियते, वाग्दुरुक्तानि पुनर्दुरुद्धराणि-दुःखेनैवोद्ध्रियन्ते मनोलक्ष्यवेधनात्, वैरानुबन्धीनि-तथाश्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरमनुबध्नन्ति, अत एव महाभयानि, कुगतिपातादिभयहेतुत्वादिति ॥ ४४५ ॥

समावयंता वयणाभिधाया, कण्णंगया दुम्मणियं जणंति ।
धम्मोत्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥ ४४६ ॥

अवण्णवायं च परम्मुहस्स, पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च, भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥ ४४७ ॥

अलोलुए अक्कुहए अमाई, अपिसुणे यावि अदीणवित्ती ।
नो भावए नोऽविय भावियप्पा, अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥ ४४८ ॥

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गेण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू ।
वियाणीया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥ ४४९ ॥

तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थीं पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नोऽवि य खिंसएज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥ ४५० ॥

अवपातवान्–वन्दनशीलो निकटवर्त्ती वा एवं च यो वाक्यकरो–गुरुनिर्देशकरणशीलः स पूज्य इति ॥ ४४१ ॥ किंच–अण्णायपत्ति, अज्ञातोञ्छं–परिचयाकरणेनाज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्धरितादि चरत्यटित्वाऽऽनीतं भुङ्क्ते, न तु ज्ञातस्तद्बहुमतमिति, एतदपि विशुद्धं–उद्गमादिदोषरहितं, न तद्विपरीतं, एतदपि यापनार्थं–संयमभरोद्वाहिदेहपालनाय, नान्यथा समुदानं च–उचितभिक्षालब्धं च–नित्यं–सर्वकालं न तूञ्छमप्येकत्रैव बहुलब्धं कदाचित्कं वा, एवंभूतमपि विभागतः, अलब्ध्वा–अनासाद्य न परिदेवयेत्–न खेदं यायात्, यथा मन्दभाग्योऽहं अशोभनो वा अयं देश इत्येवं विभागतश्च लब्ध्वा प्राप्योचितं न विकत्थते–न श्लाघां करोति सपुण्योऽहं शोभनो वा अयं देश इत्येवं स पूज्य इति ॥ ४४२ ॥ किंच संथारेति, संस्तारकशय्यासनभक्तपानानि प्रतीतान्येतेष्वल्पेच्छता–अमूर्च्छया परिभोगः, अतिरिक्तपरिहरणं चातिलाभेऽपि सति संस्तारकादीनां गृहस्थेभ्यः सकाशात्, य एवमात्मानमभितोषयति येन वा तेन वा यापयति सन्तोषप्राधान्यरतः–सन्तोष एव प्राधान्यभावे रतः–सक्तः स पूज्य इति ॥ ४४३ ॥ इन्द्रियसमाधिद्वारेण पूज्यतामाह–सक्किति, शक्याः सोढुमाशयेतीदं मे भविष्यतीति प्रत्याशया, के इत्याह–कण्टका अयोमया–लोहात्मका उत्सहता नरेण–अर्थोद्यमिनेत्यर्थः १, तथा च कुर्वन्ति केचिदयोमयकण्टकास्तरणशयनमप्यर्थलिप्सवः, न पुनर्वा कण्टकाः शक्या इति, एवं व्यवस्थिते अनाशया–फलाप्रत्याशया निरीहः सन् यस्तु सहेत कण्टकान् वाङ्मयान्–खरादिवागात्मकान् कर्णसरान्–कर्णगामिनः स पूज्य इति ॥ ४४४ ॥ एतदेव स्पष्टयति–मुहुत्तेति, मुहूर्त्तदुःखा–अल्पकालदुःखा भवन्ति कण्टका अयोमयाः, वेधकाल एव प्रायो दुःखभावात्, तेऽपि ततः कायात्सूद्धराः–सुखेनैवोद्ध्रियन्ते व्रणपरिकर्म च

अवधारिणीं-अशोभन एवायमित्यादिरूपां, अप्रीतिकारिणीं च-श्रोतुर्मृतनिवेदनादिरूपां भाषां-वाचं न भाषेत सदा यः कदाचिदपि नैव ब्रूयात्स पूज्य इति ॥ ४४७ ॥ तथा-अलोलुएत्ति, अलोलुपः-आहारादिषु अलुब्धः, अकुहक-इन्द्रजालादिकुहकरहितः, अमायी-कौटिल्यशून्यः, अपिशुनश्चापि-न छेदभेदकर्त्ता अदीनवृत्तिः-आहाराद्यलाभेऽपि शुद्धवृत्तिर्नो भावयेदकुशलभावनया परं, यथा—अमुकपुरतो भवताऽहं वर्णनीयः, नापि च भावितात्मा स्वयमन्यपुरतः स्वगुणवर्णनापरः अकौतुकश्च सदा नटनर्त्तकादिषु यः स पूज्य इति ॥ ४४८ ॥ किंच-गुणेहिंत्ति, गुणैरनन्तरोदितैर्विनयादिभिर्युक्तः साधुर्भवति, तथा अगुणैरुक्तगुणविपरीतैरसाधुः, एवं सति "गृहाण साधुगुणान् मुञ्चासाधुगुणांश्चे"ति शोभन उपदेशः, एवमधिकृत्य प्राकृतशैल्या विज्ञापयति-विविधं ज्ञापयत्यात्मानमात्मना यस्तथा रागद्वेषयोः समो न रागवान्न द्वेषवानिति स पूज्य इति ॥ ४४९ ॥ किंच-तहेवेति, तथैवेति पूर्ववत् डहरं वा महल्लकं वा, वाशब्दान्मध्यमं वा, स्त्रियं पुमांसमुपलक्षणत्वान्नपुंसकं वा प्रव्रजितं गृहिणं वा, वाशब्दात्तदन्यतीर्थिकं वा, न हीलयति, नापि खिंसयति, तत्र सूयया असूयया वा, सकृद्दुष्टाभिधानं हीलनं, तदेवासकृत् खिंसनमिति, हीलनखिंसनयोश्च निमित्तभूतं स्तम्भं च मानं च क्रोधं च रोषं च त्यजति यः स पूज्यः, निदानत्यागेन तत्त्वतः कार्यत्यागादिति॥ ४५० ॥ जे माणिएत्ति, ये मानिता अभ्युत्थानादिसत्कारैः सततं-अनवरतं शिष्यान् मानयन्ति श्रुतोपदेशं प्रति चोदनादिभिः, तथा यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति, यथा "मातापितरौ कन्यां गुणैर्वयसा च संवर्ध्य योग्यभर्त्तरि स्थापयन्ति", एवमाचार्याः शिष्यं सूत्रार्थवेदिनं दृष्ट्वा महत्याचार्यपदेऽपि स्थापयन्ति, तानेवंभूतान् गुरून्मानयति, योऽभ्युत्थानादिना

जे माणिया सययं माणयंति, जत्तेण कन्नं च निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ ४५१ ॥
तेसिं गुरूणं गुणसागराणं, सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ ४५२ ॥
गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी, जिणव(म)यनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिय रयमलं पुरेकडं, भासुरमउलं गइं वइ ॥ ४५३ ॥ त्ति बेमि ॥

विणयसमाहीए तइओ उद्देसो समत्तो ९-३ ॥

किं च-समावयंते'ति समापतन्त-एकीभावेनाभिमुखं पतन्तः, क इत्याह-वचनाभिघाताः-खरादिवचनप्रहाराः कर्णगताः सन्तः प्रायोऽनादिभवाभ्यासाद्दौर्मनस्यं-दुष्टमनोभावं जनयन्ति प्राणिनां, एवंभूतान् वचनाभिघातान् धर्म इतिकृत्वा सामायिकपरिणामापन्नो, न त्वशक्त्यादिना, परमाग्रशूरः-दानसंग्रामशूरापेक्षया प्रधानः शूरः जितेन्द्रियः सन् यः सहते न तु दौर्विकारं उपदर्शयति स पूज्य इति ॥ ४४६ ॥ तथा अवण्णत्ति, अवर्णवादं-अश्लाघावादं च पराङ्मुखस्य पृष्ठत इत्यर्थः, प्रत्यक्षतश्च-प्रत्यक्षस्य च प्रत्यनीकां अपकारिणीं चौरस्त्वमित्यादिरूपां भाषां तथा

खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता, तंजहा–विणयसमाही, सुयसमाही,
तवसमाही, आयारसमाही । सू० १६ ।–विणए सुए य तवे, आयारे निच्चपंडिया । अभिरामयंति
अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिया ॥ ४५४ ॥

अथ चतुर्थ उच्यते, तत्र सामान्योक्तविनयविशेषोपदर्शनार्थमिदमाह–सुयं मे इति, श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन
भगवता एवमाख्यातमित्येतद् यथा षड्जीवनिकायां (पृ. २०) तथैव द्रष्टव्यं, इह खल्विति, इह–क्षेत्रे प्रवचने वा,
खलुशब्दो विशेषणार्थः, न केवलमिह, किं त्वन्यत्राप्यन्यतीर्थकृत्प्रवचनेष्वपि, स्थविरैः–गणधरैर्भगवद्भिः–परमैश्वर्या-
दियुक्तैश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि–विनयसमाधिभेदरूपाणि प्रज्ञप्तानि–प्ररूपितानि, भगवतः सकाशे श्रुत्वा
ग्रन्थत उपरचितानीत्यर्थः, कतराणि खलु तानीत्यादिना प्रश्नः, अमूनि खलु तानीत्यादिना निर्वचनं, तद्यथेत्युदा-
हरणोपन्यासार्थः–विनयसमाधिः १ श्रुतसमाधिः २ तपःसमाधिः ३ आचारसमाधिः ४, तत्र समाधानं समाधिः–परमार्थत
आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यं, विनये विनयाद्वा समाधिः विनयसमाधिः, एवं शेषेष्वपि शब्दार्थो भावनीयः । १६ । एतदेव
श्लोकेन संगृह्णाति–विणए इत्यादि, विनये–यथोक्तलक्षणे श्रुते–अङ्गादौ तपसि–बाह्यादौ आचारे च–मूलगुणादौ,
चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, नित्यं–सर्वकालं पण्डिताः–सम्यक्परमार्थवेदिनः, किं कुर्वन्तीत्याह–अभिरमयन्त्यने-
कार्थत्वादाभिमुख्येन विनयादिषु युञ्जते आत्मानं–जीवं, किमिति ?, अस्योपादेयत्वात्, क एवं कुर्वन्तीत्याह–ये भवन्ति



मानार्हान्–मानयोग्यान् तपस्वी सन्, जितेन्द्रियः सत्यरत इति प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषणद्वयं, स पूज्य इति ॥ ४५१ ॥ तथा–तेसिं गुरूणंति, तेषां गुरूणामनन्तरोदितानां गुणसागराणां–गुणसमुद्राणां सम्बन्धीनि श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि–परलोकोपकारकाणि चरति–आचरति मुनिः–साधुः पञ्चरतः–पञ्चमहाव्रतसक्तः त्रिगुप्तो–मनोगुप्त्यादिमान् चतुष्कषायापगत इत्यपगतक्रोधादिकषायो यः स पूज्य इति ॥ ४५२ ॥ प्रस्तुतफलाभिधानेनोपसंहरन्नाह–गुरुन्ति, गुरुमाचार्यादिरूपमिह–मनुष्यलोके सततं–अनवरतं परिचर्य–विधिनाऽऽराध्य मुनिः–साधुः, किंविशिष्टो मुनिरित्याह–जिनवचन(मत)निपुणः–आगमे प्रवीणः, अभिगमकुशलो–लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्षः, स एवंभूतो विधूय रजोमलं पुराकृतं क्षपयित्वाऽष्टप्रकार कर्मेति भावः, किमित्याह–भास्वरां ज्ञानतेजोमयत्वादतुलां–अनन्यसदृशीं गतिं–सिद्धिरूपां व्रजतीति–गच्छति, तदा जन्मान्तरेण वा सुकुलप्रत्यागमनप्रत्ययोत्पादादिना प्रकारेण ॥ ४५३ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

इति विनयसमाधावुक्तस्तृतीय उद्देशकः ९–३ ॥

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं, चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता ?, इमे

बुध्यते, तच्चावबुद्धं सत्पुनरधितिष्ठति–यथावत्करोति, न च कुर्वन्नपि मानमदेन–मानगर्वेण माद्यति–मदं याति, विनयसमाधौ–विनयसमाधिविषये आयतार्थिकः–मोक्षार्थीति ॥ ४५५ ॥

चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ, तंजहा–सुयं मे भविस्सइत्ति अज्झाइयव्वं भवइ १, एगग्गचित्तो भविस्सामित्ति अज्झाइयव्वयं भवइ २, अप्पाणं ठावइस्सामित्ति अज्झाइयव्वयं भवइ ३, ठिओ परं ठावइस्सामित्ति अज्झाइयव्वयं भवइ ४ चउत्थं पयं भवइ। सू० १८। भवइ य एत्थ सिलोगो–

नाणमेगग्गचित्तो य, ठिओ अ ठावई परं। सुयाणि य अहिज्जित्ता, रयो सुयसमाहिए ॥ ४५६ ॥

उक्तो विनयसमाधिः, श्रुतसमाधिमाह–चउव्विहा इत्यादि, चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। श्रुतं मे आचारादि द्वादशाङ्गं भविष्यतीत्यनया बुद्ध्या अध्येतव्यं भवति, न गौरवाद्यालम्बनेन १, तथा अध्ययनं कुर्वन्नेकाग्रचित्तो भविष्यामि न च विप्लुतचित्त इत्यध्येतव्यं भवति अनेन चालम्बनेन २, तथाऽध्ययनं कुर्वन् विदितधर्म्मतत्त्व आत्मानं स्थापयिष्यामि शुद्धधर्मे इत्यनेन चालम्बनेनाध्येतव्यं भवति ३, तथा अध्ययनफलात् स्थितः स्वयं धर्म्मे परं विनेयं स्थापयिष्यामि तत्रैवेत्यध्येतव्यं भवत्यनेन चालम्बनेनाध्येतव्यं ४ चतुर्थं पदं भवति। १८। भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत्, स चायं नाणमिति, ज्ञानमित्यध्ययनपरस्य ज्ञानं भवत्येकाग्रचित्तश्च तत्परतया एकाग्रालम्बनश्च भवति, स्थित इति विवेकाद्धर्म्मस्थितो भवति, स्थापयति परमिति स्वयं धर्म्मस्थितत्वादन्यमपि स्थाप-

जितेन्द्रियाः-जितचक्षुरादिभावशत्रवः, त एव परमार्थतः पण्डिता इति प्रदर्शनार्थमेतदिति ॥ ४५४ ॥

चउव्विहा खलु विणयसमाही हवइ, तंजहा-अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ १, सम्मं संपडिवज्जइ २, वेयमाराहइ ३, न य भवइ अत्तसंपग्गहिए ४ चउत्थं पयं भवइ । सू० १७। भवइ य एत्थ सिलोगो-पेहेइ हियाणुसासणं, सुस्सूसई तं च पुणो अहिट्ठए। न य माणमएण मज्जई, विणयसमाही आययट्ठिए ॥ ४५५ ॥

विनयसमाधिमभिधित्सुराह-चउविहेत्यादि, चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, अणुसासिज्जंतो इत्यादि, अनुशास्यमानस्तत्र तत्र चोद्यमानः शुश्रूषति-तदनुशासनमर्थितया श्रोतुमिच्छति १, इच्छाप्रवृत्तितः तत् सम्यक्सम्प्रतिपद्यते, सम्यग्-अविपरीतमनुशासनतत्त्वं यथाविषयमवबुध्यते २, स चैवं विशिष्टप्रतिपत्तेरेव वेदमाराधयति, वेद्यते अनेनेति वेदः-श्रुतज्ञानं तद्यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति ३, अत एव विशुद्धप्रवृत्तेर्न च भवत्यात्मसंप्रगृहीतः-आत्मा एव सम्यक् प्रकर्षेण गृहीतो येनाहं विनीतः सुसाधुरित्येवमादिना स तथा, वनात्मोत्कर्षप्रधानत्वाद्विनयादेः, न चैवंभूतो भवतीति अभिप्रायः, चतुर्थं पदं भवतीत्येतदेव यथाक्रमप्रामाण्यादुत्तरोत्तरगुणापेक्षया चतुर्थमिति ४ । १७। भवति चात्र श्लोकः, अत्रेति विनयसमाधौ श्लोकः-छन्दोविशेषः, स चायं-पेहेइत्ति-प्रार्थयते हितानुशासनं-इच्छति इहलोकपरलोकोपकारिणमाचार्यादिभ्य उपदेशं, शुश्रूषतीत्यनेकार्थत्वात् यथाविषयमव-

चिरन्तनं कर्म, नवं च न बध्नात्येवं युक्तः सदा तपःसमाधाविति ॥ ४५७ ॥

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ, तंजहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा १, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा २, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा ३, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा ४, चउत्थं पयं भवइ । सू० २० । भवइ य एत्थ सिलोगो—

जिणवयणरए अतिंतिणे, पडिपुन्नाययमाययट्ठिए ।
आयारसमाहिसंवुडे, भवइ य दंते भावसंधए ॥ ४५८ ॥
अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ ।
विउलहियं सुहावहं पुणो, कुवइ असो पयखेममप्पणो ॥ ४५९ ॥
जाइ(जरा)मरणाओ मुच्चई, इत्थंथं च चएइ सव्वसो ।
सिद्धे वा भवइ सासए, देवे वा अप्परए महड्ढिए ॥ ४६० ॥ त्ति बेमि ॥ ९–४ ॥

विणयसमाहीणामज्झयणं समत्तं ९ ॥

यति, श्रुतानि च नानाप्रकाराण्यधीते, अधीत्य च रतः-सक्तो भवति, श्रुतसमाधाविति ॥ ४५६ ॥

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा—नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा १, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा २, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा ३, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा ४, चउत्थं पयं भवइ। सू० १९। भवइ य एत्थ सिलोगो—विविहगुणतवोरए य निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए। तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥ ४५७॥

उक्तः श्रुतसमाधिः, तपःसमाधिमाह—चउव्विहा इत्यादि, चतुर्विधः खलु तपःसमाधिर्भवति, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, नेहलोकार्थमिहलोकनिमित्तं लब्ध्यादिवाञ्छया तपः-अनशनादिरूपमधितिष्ठेत्-कुर्यात् धम्मिलवत् १, तथा न परलोकार्थं-जन्मान्तरभोगनिमित्तं तपोऽधितिष्ठेद् ब्रह्मदत्तवत् २, एवं न कीर्त्तिवर्णशब्दश्लाघार्थमिति, सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्त्तिः, एकदिग्व्यापी वर्णो, अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थान एव श्लाघा, नैवदर्थं तपोऽधितिष्ठेत् ३, अपि तु नान्यत्र निर्जरार्थमिति, न कर्म्मनिर्जरामेकां विहाय तपोऽधितिष्ठेत्, अकामः सन् यथा कर्मनिर्जरैव फलं भवति तथाधितिष्ठेदित्यर्थः ४, चतुर्थं पदं भवति। १९। भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत्, स चायं—विविहेत्यादि, विविधगुणतपोरतो हि नित्यमनशनाद्यपेक्षयाऽनेकगुणं यत्तपस्तद्रत एव सदा भवति, निराशो—निष्प्रत्याश इहलोकादिषु, निर्जरार्थिकः—कर्मनिर्जरार्थी, स एवंभूतः तपसा विशुद्धेन धुनोति—अपनयति पुराणपापं—

इति श्रीसुमतिसाधुविरचितावचूरौ नवमं विनयसमाधिनाममध्ययनं समाप्तम् ९ ॥

अधुना सभिक्ष्वाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने व्याख्यातं विनयसमाध्यध्ययनम् ॥ आचारप्रणिहितो यथोचितविनयसंपन्नो भवतीत्येतदुक्तं, इह त्वेतेष्वेव नवस्वध्ययनार्थेषु यो व्यवस्थितः स सम्यग्भिक्षुरित्येतदुच्यते, इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति । तच्चेदं—

निक्खम्ममाणाइ य बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा ।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंतं नो पडियायइ जे स भिक्खू ॥ ४६१ ॥
पुढविं न खणे न खणावए, सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं, तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ ४६२ ॥
अनिलेण न वीए न वीयावए, हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो, सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ ४६३ ॥
वहणं तसथावराण होइ, पुढवीतणकट्ठनिस्सियाणं ।

उक्तः तपःसमाधिः, आचारसमाधिमाह–चउव्विहा इत्यादि, चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, नेहलोकार्थमित्याद्याचाराभिधानभेदेन पूर्ववत्, यावन्नान्यत्रार्हतैरर्हत्सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिः आचारं–मूलगुणोत्तरगुणमयमधितिष्ठेत्, निरीहः सन् यथा मोक्ष एव भवतीति चतुर्थं पदं भवति। २०। भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत्, स चायं–जिणवयणरए इत्यादि, जिनवचनरतः–आगमे सक्तः, अतिन्तिनः–न सकृत्किञ्चिदुक्तः सन्नसूयया भूयो भूयो वक्ता, प्रतिपूर्णः सूत्रादिना, आयतमायातार्थिकः–अत्यन्तं मोक्षार्थी आचारसमाधिसंवृत इत्याचारे यः समाधिस्तेन स्थगिताश्रवद्वारः सन् भवति च दान्त–इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्यां भावसन्धको–भावो–मोक्षस्तत्सन्धक आत्मनो मोक्षासन्नकारीति ॥ ४५८ ॥ सर्वसमाधिफलमाह–अभिगमेति, अभिगम्य–विज्ञायासेव्य च चतुरः समाधीननन्तरोदितान्, सुविशुद्धो मनोवाक्कायैः, सुसमाहितात्मा सप्तदशविधे संयमे, स एवंभूतो धर्मराज्यमासाद्य विपुलहितसुखावहं पुनरिति विपुलं–विस्तीर्णं हितं तदात्वे आयत्यां च पथ्यं सुखमावहति–प्रापयति यत्तत् तथाविधं, करोत्यसौ साधुः पदं–स्थानं, क्षेमं–शिवं, आत्मन एव, न त्वन्यस्येति अनेनैकान्तक्षणभङ्गव्यवच्छेदमाहेति ॥ ४५९ ॥ एतदेव स्पष्टयति—जाइ इति, जातिजरामरणात्–जन्मजरामरणात्संसारान्मुच्यते, असौ सुसाधुरित्थंस्थं चेति इदंप्रकारमापन्नमित्थं इत्थं तिष्ठतीतीत्थंस्थं—नारकादिव्यपदेशबीजं वर्णसंस्थानादि तच्च चयइ–त्यजति सर्वशः–सर्वैः प्रकारैरपुनर्ग्रहणतया, एवं सिद्धो वा कर्मक्षयात् सिद्धो भवति, शाश्वतोऽपुनरागामी सावशेषकर्मा देवो वाऽल्परतः—पामापरिगतकण्डूयनकल्परतरहितो महर्द्धिकः—अनुत्तरवैमानिकादिः ॥ ४६० ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ इति विनयसमाधौ चतुर्थ उद्देशकः ॥

ततश्च न दोष इति ॥ ४६२ ॥ तथा अनिलेति-अनिलेनानिलहेतुना चेलकर्णादिना न वीजयत्यात्मादि स्वयं; न वीजयति परैः, हरितानि-शष्पादीनि न छिनत्ति स्वयं न छेदयति परैः, वीजानि-हरितफलरूपाणि व्रीह्यादीनि सदा-सर्वकालं विवर्जयेत् संघट्टनादिक्रियया, सचित्तं नाहारयति यः कदाचित् अप्यपुष्टालम्बनः स भिक्षुरिति ॥ ४६३ ॥ औद्देशिकादिपरिहारेण त्रसस्थावरपरिहारमाह-वहणमिति, वधनं-हननं त्रसस्थावराणां-द्वीन्द्रियादिपृथिव्यादीनां भवति कृतौद्देशिके, किंविशिष्टानां ?-पृथिवीतृणकाष्ठनिश्रितानां तथासमारम्भात्, यस्मादेवं तस्मादौद्देशिकं कृतादि, अन्यच्च सावद्यं न भुङ्क्ते, न केवलं एतत् किन्तु नापि पचति स्वयं, न पाचयत्यन्यैः, न पचन्तमनुजानाति यः स भिक्षुरिति ॥ ४६४ ॥ रोइत्ति, रोचयित्वा-विधिग्रहणभावनाभ्यां प्रियं कृत्वा, किं तदित्याह-ज्ञातपुत्रवचनं भगवन्महावीरवचनं आत्मसमान्-आत्मतुल्यान्मन्यते षडपि कायान्-पृथिव्यादीन्, पञ्च चेति चशब्दोऽपिशब्दार्थः पञ्चापि स्पृशति-सेवते महाव्रतानि, पञ्चाश्रवसंवृतश्च द्रव्यतोऽपि पञ्चेन्द्रियसंवृतश्च यः स भिक्षुरिति ॥ ४६५ ॥

चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूवरयणे, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ ४६६ ॥
सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ ४६७ ॥

तम्हा उद्देसिअं न भुंजे, नोऽवि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥ ४६४ ॥

रोइअ, नायपुत्तवयणे, अप्प(त्त)समे मन्नेज्ज छप्पि काए ।

पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥ ४६५ ॥

किंच-निक्खम्मेति, निष्क्रम्य-द्रव्यभावगृहात्, प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थः आज्ञया-तीर्थकरगणधरोपदेशेन योग्यतायां सत्यां, निष्क्रम्य किमित्याह-बुद्धवचने-अवगततत्त्वतीर्थकरगणधरवचने नित्यं-सर्वकालं चित्तसमाहितश्चित्तेनातिप्रसन्नो भवेत्, प्रवचन एवाभियुक्त इति गर्भः। व्यतिरेकतः समाधानोपायमाह-स्त्रीणां सर्वासामनर्थकार्यनिबन्धनभूतानां वशं-तत्परतन्त्रतां(तदायत्तता)रूपं न चापि गच्छेत्, तद्वशगो हि नियमतो वान्तं प्रत्यापिबति, अतो बुद्धवचनचित्तसमाधानतः सर्वथा स्त्रीपरित्यागात्, अनेनैवोपायेन, अन्योपायासम्भवात्, वान्तं-परित्यक्तं मद्विषयजम्बालं न प्रत्यापिबति-न मनागप्याभोगतोऽनाभोगतश्च तत्सेवते यः स भिक्षुर्भावभिक्षुरिति ॥ ४६१ ॥ तथा पुढवीति, पृथ्वीं-सचेतनादिरूपां न खनति स्वयं, न खानयति परैः, "एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमि"ति खनन्तमप्यन्यं नानुजानातीति, एवं सर्वत्र वेदितव्यं; शीतोदकं-सचित्तं पानीयं न पिबति स्वयं, न पाययति परान्, अग्निः षड्जीवघातकः, किंवदित्याह-शस्त्रं-खड्गादि यथा सुनिशितमुज्ज्वालितं तद्वत्, तं न ज्वालयति स्वयं, न ज्वालयति परैः, य इत्थंभूतः स भिक्षुरिति, आह-षड्जीवनिकायाविद्धि सर्वाध्ययनेष्वयमर्थोऽभिहितः किमर्थं पुनरुक्त इति?, उच्यते, तदुक्तार्थानुष्ठानपर एव भिक्षुरिति ज्ञापनार्थं,

मनोवाक्कायसुसंवृतः-तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तो यः स भिक्षुरिति ॥४६७॥ किं च-तहेव असणंति, तथैवेति पूर्वविधाने-नाशनं पानं च प्रागुक्तस्वरूपं तथा विविधमनेकप्रकारं खाद्यं स्वाद्यं च प्रागुक्तस्वरूपमेव लब्ध्वा-प्राप्य, किमित्याह-भविष्यत्यर्थः-प्रयोजनमनेन श्वः परश्वो वेति तद्-अशनादि न निधत्ते-न स्थापयति स्वयं, तथा न निधापयति-न स्थापयत्यन्यैः, स्थापयन्तमन्यं नानुजानाति, यः सर्वथा संनिधिपरित्यागवान् स भिक्षुरिति ॥ ४६८ ॥ किंच-तहेवत्ति, तथैवाशनं पानं च विविधं खाद्यं स्वाद्यं च लब्ध्वेति पूर्ववत्, लब्ध्वा किमित्याह-छन्दित्वा-निमन्त्र्य समानधार्मिकान्-साधून् भुङ्क्ते, स्वात्मतुल्यत्वाद्वात्सल्यसिद्धेः, तथा भुक्त्वा स्वाध्यायरतश्च यः चशब्दो विशेषानुष्ठानपरश्च यः स भिक्षुरिति ॥ ४६९ ॥ भिक्षुलक्षणाधिकार एवाह-न ये त्ति, न च वैग्रहिकीं-कलहप्रतिबद्धां कथां कथयति, सद्वादकथादिष्वपि न च कुप्यति परस्यापि तु निभृतेन्द्रियोऽनुद्धतेन्द्रियः प्रशान्तो-रागादिरहित एवास्ते, तथा संयमे-पूर्वोक्ते ध्रुवं-सर्वकालं योगेन-कायवाङ्मनःकर्मलक्षणेन युक्तः-योगयुक्तः, प्रतिभेदमौचित्येन प्रवृत्तेः, तथोपशान्तोऽनाकुलः कायचापलादिरहितः, अविहेठकः न क्वचिदुचितेऽनादरवान्, क्रोधादीनां विश्लेपक इत्यन्ये, ये इत्थंभूतः स भिक्षुरिति ॥ ४७० ॥

जो सहइ हु गामकण्टए, अक्कोसपहारतज्जणाओ य ।
भयभेरवसद्दसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू ॥ ४७१ ॥

तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥ ४६८ ॥
तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मिआण भुंजे, भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥ ४६९ ॥
न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमे धुवं जोगेण जुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ ४७० ॥

किंच–चत्तारिवि, चतुरः क्रोधादीन् वमति तत्प्रतिपक्षाभ्यासेन सदा–सर्वकालं कषायान्, ध्रुवयोगी चोचितनित्ययोगवांश्च भवति, बुद्धवचन इति तृतीयार्थे सप्तमी, तीर्थकरवचनेन करणभूतेन, ध्रुवयोगी भवति, यथागममेवेति भावः, अधनश्चतुष्पदादिरहितो निर्जातरूपरजतो–निर्गतसुवर्णरूप्य इति भावः, गृहियोगं–मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धं परिवर्ज्जयति सर्व्वैः प्रकारैः परित्यजति यः स भिक्षुरिति ॥ ४६६ ॥ तथा–सम्मद्दिट्ठीति, सम्यग्दृष्टिः–भावसम्यग्दर्शनी यः सदाऽमूढः–अविप्लुतः सन्नेवं मन्यते अस्त्येव ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि, तपश्च बाह्याभ्यन्तरकर्म्ममलापनयनजलकल्पं संयमश्च नवकर्म्मानुपादानरूपः, इत्थं च दृढभावस्तपसा धुनोति पुराणं पापं भावसारतया प्रवृत्त्या,

एतदेव स्पष्टयति–पडिमंति, प्रतिमां–मासादिरूपां प्रतिपद्य–सविधिमङ्गीकृत्य स्मशाने–पितृवने, न बिभेति–न भयं
यांति, भैरवभयानि दृष्ट्वा–रौद्रभयहेतूनुपलभ्य वैतालिकादिरूपशब्दादि, विविधगुणतपोरतश्च नित्यं–मूलगुणाद्य-
नशनादिसक्तश्च सर्वकालं, न शरीरमभिकाङ्क्षते निःस्पृहतया वार्त्तमानिकं भावि च, य इत्थंभूतः स भिक्षु-
रिति ॥ ४७२ ॥ असइंति, न सकृदसकृत्सर्वदैवेत्यर्थः, किमित्याह–व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः–व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन,
त्यक्तो–विभूषाकरणेन, देहः–शरीरं येन स तथाविधः, आक्रुष्टो वा ज(य)कारादिना, हतो वा दण्डादिना, लूषितो
वा खड्गादिना, भक्षितो वा शृगालादिना, पृथिवीसमः–सर्वसहो मुनिर्भवति, न च रागादिना पीड्यते, तथाऽ-
निदानो–भाविफलाशंसारहितः, अकुतूहलश्च नटादिषु, य एवंभूतः स भिक्षुरिति ॥ ४७३ ॥ भिक्षुस्वरूपाभिधानाधिकार
एवाह–अभिभूयत्ति, अभिभूय–पराजित्य, कायेन–शरीरेणापि, न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या मनोवाग्भ्यामेव, कायेनानभिभवे
तत्त्वतस्तदनभिभवात्, परीषहान्–क्षुदादीन्, समुद्धारयत्युत्तारयति, जातिपथात्–संसारमार्गादात्मानं कथमित्याह–
विदित्वा–विज्ञाय, जातिमरणं–संसारमूलं महाभयं–महाभयकारणं, ततः–तपसि रतः–सक्तः, किंभूतः ? इत्याह–
श्रामण्ये–श्रमणानां सम्बन्धिनि, शुद्ध इति भावः, य एवंभूतः स भिक्षुरिति ॥ ४७४ ॥ हत्थत्ति, हस्तसंयतः पाद-
संयत इति, कारणं विना कूर्मवल्लीन आस्ते, कारणे च सम्यग्गच्छति, तथा वाक्संयतः–अकुशलवाग्निरोधात् कुशलवागुदी-
रणेन संयतेन्द्रियो–निवृत्तविषयप्रसरः अध्यात्मरतः–प्रशस्तध्यानासक्तः, सुसमाहितात्मा ध्यानापादकगुणेषु, तथा
सूत्रार्थं च यथावस्थितं विधिग्रहणशुद्धं विजानाति यः सम्यग्यथाविषयं स भिक्षुरिति ॥ ४७५ ॥

पडिमं पडिवज्जिया मसाणे, नो भीयए भयभेरवाइं दिस्स ।
विविहगुणतवोरए य निच्चं, न सरीरं चाभिकङ्खए जे स भिक्खू ॥ ४७२ ॥
असइं वोसट्ठचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए लूसिए वा ।
पुढविसमे मुणी हवेज्जा, अनियाणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥ ४७३ ॥
अभिभूय कायेण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं ।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥ ४७४ ॥
हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ॥ ४७५ ॥

किंच–जो सहइत्ति, यः खलु महात्मा सहते सम्यग्ग्रामकण्टकान् ग्रामा–इन्द्रियाणि तद्दुःखहेतवः कण्टकास्तान्, स्वरूपत एवाह–आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनांश्चेति, तत्राक्रोशा यकारादिभिः, प्रहाराः कशादिभिः, तर्जना असूयादिभिः, तथा भैरवभया–अत्यन्तरौद्रभयजनकाः शब्दाः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते, तत्तथा तस्मिन्, वैतालादिकृतार्त्तनादाट्टहास इत्यर्थः, अत्रोपसर्गेषु सत्सु समसुखदुःखसहश्च–योऽचलितसामायिकभावः स भिक्षुरिति ॥ ४७१ ॥

छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ ४८१ ॥ तिबेमि ॥

सभिक्खुअज्झयणं दसमं समत्तं १० ॥

तथा उवहिंमित्ति, उपधौ-वस्त्रादिलक्षणे अमूर्च्छितः-तद्विषयमोहत्यागेन अगृद्धः-प्रतिबन्धाभावेन, अज्ञातोञ्छं चरति भावपरिशुद्धं, स्तोकं स्तोकमित्यर्थः पुलाकनिष्पुलाकः-संयमासारतापादकदोपरहितः, क्रयविक्रयसंनिधिभ्यो विरतः-द्रव्यभावभेदभिन्नक्रयविक्रयपर्युषितस्थापनेभ्यो निवृत्तः, सर्वसङ्गापगतश्च योऽपगतद्रव्यभावसङ्गश्च यः, स भिक्षु-रिति ॥ ४७६ ॥ किंच-अलोलेति, अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनापरो भिक्षुः-साधुर्न रसेषु गृद्धः, प्राप्तेष्वपि अप्रतिबद्ध इति भावः, उञ्छं चरति भावोञ्छमेवेति पूर्ववत् । नवरं तत्रोपधिमाश्रित्योक्तमिह त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यं । तथा जीवितं नाभिकाङ्क्षते असंयमजीवितं, तथा ऋद्धिं च-आमर्पौषध्यादिरूपां, सत्कारं-वस्त्रादिभिः, पूजनं च-स्तवादिना त्यजति नैवदर्थं एव यतते, स्थितात्मा ज्ञानादिषु, अनिभ इत्यमायो यः स भिक्षुरिति ॥ ४७७ ॥ तथा न परमिति, न परं स्वपक्षविनेयव्यतिरिक्तं वदति-अयं कुशीलस्तदप्रीत्यादिदोपप्रसङ्गात्, स्वपक्षविनेयं तु शिक्षाग्रहणबुद्ध्या वदत्यपि, सर्वथा येनान्यः कश्चित्कुप्यति न तद्ब्रवीति दोपसद्भावेऽपि, किमित्यत आह-ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं, नान्यसम्बन्धि अन्यस्य भवति अग्निदाहवेदनावत्, एवं सत्स्वपि गुणेपु नात्मानं समुत्कर्षति-न स्वगुणैर्गर्वमायाति यः स भिक्षुरिति ॥ ४७८ ॥ मदप्रतिपेधार्थमाह-न जाइमत्तेति, न जातिमत्तो यथाऽहं ब्राह्मणः क्षत्रियो वा, न चापि रूपमत्तो यथाऽहं

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नायउञ्छं पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए, सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥ ४७६ ॥
अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे, उञ्छं चरे जीविय नाभिकङ्खे ।
इड्ढिं च सक्कारणपूयणं च, चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥ ४७७ ॥
न परं वइज्जासि अयं कुसीले, जेणऽन्न कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं, अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥ ४७८ ॥
न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥ ४७९ ॥
पवेयए अज्जपयं महामुणी, धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिङ्गं, न यावि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥ ४८० ॥
तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्चहियट्ठियप्पा ।

छिंदित्तु जाईमरणस्स वंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ ४८१ ॥ त्तिबेमि ॥

सभिक्खुअज्झयणं दसमं समत्तं १० ॥

तथा उवहिंमित्ति, उपधौ-वस्त्रादिलक्षणे अमूर्च्छितः-तद्विषयमोहत्यागेन अगृद्धः-प्रतिबन्धाभावेन, अज्ञातोञ्छं चरति भावपरिशुद्धं, स्तोकं स्तोकमित्यर्थः पुलाकनिष्पुलाकः-संयमासारतापादकदोषरहितः, क्रयविक्रयसंनिधिभ्यो विरतः-द्रव्यभावभेदभिन्नक्रयविक्रयपर्युषितस्थापनेभ्यो निवृत्तः, सर्वसङ्गापगतश्च योऽपगतद्रव्यभावसङ्गश्च यः, स भिक्षुरिति ॥ ४७६ ॥ किंच-अलोलेति, अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनापरो भिक्षुः-साधुर्न रसेषु गृद्धः, प्राप्तेष्वपि अप्रतिबद्ध इति भावः, उञ्छं चरति भावोञ्छमेवेति पूर्ववत् । नवरं तत्रोपधिमाश्रित्योक्तमिह त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यं । तथा जीवितं नाभिकाङ्क्षते असंयमजीवितं, तथा ऋद्धिं च-आमर्षौषध्यादिरूपां, सत्कारं-वस्त्रादिभिः, पूजनं च-स्तवादिना त्यजति नैतदर्थं एव यतते, स्थितात्मा ज्ञानादिषु, अनिभ इत्यमायो यः स भिक्षुरिति ॥ ४७७ ॥ तथा न परमिति, न परं स्वपक्षविनेयव्यतिरिक्तं वदति-अयं कुशीलस्तदप्रीत्यादिदोषप्रसङ्गात्, स्वपक्षविनेयं तु शिक्षाग्रहणबुद्ध्या वदत्यपि, सर्वथा येनान्यः कश्चित्कुप्यति न तद्ब्रवीति दोषसद्भावेऽपि, किमित्यत आह-ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं, नान्यसम्बन्धि अन्यस्य भवति अग्निदाहवेदनावत्, एवं सत्स्वपि गुणेषु नात्मानं समुत्कर्षति-न स्वगुणैर्गर्वमायाति यः स भिक्षुरिति ॥ ४७८ ॥ मदप्रतिषेधार्थमाह-न जाइमत्तेति, न जातिमत्तो यथाऽहं ब्राह्मणः क्षत्रियो वा, न चापि रूपमत्तो यथाऽहं

रूपवान्, आदेयः, न लाभमत्तो यथाऽहं लाभवान्, न श्रुतमत्तो यथाऽहं पण्डितः, अनेन कुलमदादिपरिग्रहः, अत एवाह—मदान् सर्वानपि कुलादिविषयान्विवर्ज्य–परित्यज्य धर्म्मध्यानरतो–यो यथागमं तत्र सक्तः स भिक्षुरिति ॥ ४७९ ॥ किंच–पवेयए इत्यादि, प्रवेदयति–कथयत्यार्यपदं–शुद्धधर्मपदं परोपकाराय महामुनिः–शीलवान् ज्ञाता एवंभूत एव वस्तुतो नान्यः, किमित्येतदेवमित्याह–धर्म्मे स्थितः स्थापयति परमपि–श्रोतारं, तत्रादेयभावप्रवृत्तेः, तथा निष्क्रम्य वर्जयति कुशीललिंगं–आरम्भादि कुशीलचेष्टितं, तथा न चापि हास्यकुहको–न हास्यकारिकुहकयुक्तो यः स भिक्षुरिति ॥ ४८० ॥ भिक्षुभावफलमाह–तं देहेति, तं देहवासमित्येवं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं चारकरूपं शरीरावासमशुचिं शुक्रशोणितोद्भवत्वादिना, अशाश्वतं प्रतिक्षणपरिणत्या सदा त्यजति ममत्वानुबन्धपरित्यागेन, क इत्याह–नित्यहिते–मोक्षसाधने सम्यग्दर्शनादौ स्थितात्मा–अत्यन्तसुस्थितः, स चैवंभूतश्छित्त्वा जातिमरणस्य संसारस्य बन्धनं–कारण-मुपैति–सामीप्येन गच्छति भिक्षुः–यतिरपुनरागमां नित्यां जन्मादिरहितामित्यर्थः, गतिमिति–सिद्धिगतिम् ॥ ४८१ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ इति व्याख्यातं सभिक्ष्वध्ययनम् १० ॥

अधुनैषतश्चूडे आरभ्येते, अनयोश्चायमभिसम्बन्ध इहानन्तराध्ययने भिक्षुगुणयुक्त एव भिक्षुरुक्तः, स चैवंभूतोऽपि कदाचि-त्कर्मपरतन्त्रत्वात् कर्मणश्च बलवत्त्वात् सीदेत्, अतस्तत्स्थिरीकरणं कर्तव्यमिति, तदर्थाधिकार एव चूडाद्वयमभिधीयते, तच्चेदं—

इह खलु भो! पव्वइएणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा

अणोहाइएणं चेव हयरस्सिगयंकुसपोयपडागाभूआइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहि- अव्वाइं भवंति, तंजहा—हंभो ! दुस्समाए दुप्पजीवी १, लहुसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा २, भुज्जो अ साइबहुला मणुस्सा ३, इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सई ४, ओम- जणपुरक्कारे ५, वंतस्स य पडिआयणं ६, अहरगइवासोवसंपया ७, दुल्लहे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहवासमज्झे वसंताणं ८, आयंके से वहाय होइ ९, संकप्पे से वहाय होइ १०, सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परिआए ११, बंधे गिहवासे मुक्खे परिआए १२, सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परिआए १३, बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा १४, पत्तेअं पुन्नपावं १५, अणिच्चे खलु भो ! मणुस्साणं जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले १६, बहुं च खलु भो ! पावं कम्मं पगडं १७, पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिन्नाणं दुप्पडिकंताणं वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता १८ । अट्ठारसमं पयं भवइ । सू० २१ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

इह खलु भो पव्वेति, इह खलु भो प्रव्रजितेन इहेति जिनप्रवचने, खलुशब्दोऽवधारणे, स च भिन्नक्रम इति

दर्शयिष्यामः, भो इत्यामन्त्रणे, प्रव्रजितेन-साधुना, किंविशिष्टेनेत्याह-उत्पन्नदुःखेन-सञ्जातशीतादिशारीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन संयमे-व्यावर्जितस्वरूपे अरतिसमापन्नचित्तेनोद्वेगगताभिप्रायेण संयमनिर्विण्णभावेनेत्यर्थः, स एव विशेष्यते-अवधावनोत्प्रेक्षिणा-अवधावनं-अपसरणं संयमादुत्-प्राबल्येन प्रेक्षितुं शीलं यस्य स तथाविधस्तेन, उत्प्रव्रजितुकामेनेति भावः, अनवधावितेनैव-अनुत्प्रव्रजितेनैवामूनि वक्ष्यमाणलक्षणान्यष्टादश स्थानानि सम्यग्-भावसारं सुप्रत्युपेक्षितव्यानि-सुष्ठ्वालोचनीयानि भवन्तीति योगः; अवधावितस्य तु प्रत्युपेक्षणं प्रायोऽनर्थकमिति, तान्येव विशेष्यन्ते-हयरश्मिगजाङ्कुशपोतपताकाभूतानि-अश्वखलिनगजाङ्कुशबोहित्थसितपटतुल्यानि, एतदुक्तं भवति-यथा हयादीनामुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां रश्म्यादयो नियमनहेतवः तथा एतान्यपि संयमादुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां भव्यसत्त्वानामिति, यतश्चैवमतः सम्यक् प्रत्युपेक्षितव्यानि भवन्ति, खलुशब्दोऽवधारणे, योगात् सम्यगेव संप्रत्युपेक्षितव्यानि एवेत्यर्थः। तद्यथेत्यादि-तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, हंभो! दुःषमायां दुष्प्रजीविन इति, हंभो-शिष्यामन्त्रणे, दुष्षमायां-अधमकालाख्यायां कालदोषादेव दुःखेन-कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीला दुष्प्रजीविनः, प्राणिन इति गम्यते, नरेन्द्रादीनां अपि अनेकदुःखप्रयोगदर्शनात्, उदारभोगरहितेन च विडम्बनाप्रायेण कुगतिहेतुना किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति प्रथमं स्थानम् १। तथा लघव इत्वरा गृहिणां कामभोगाः, दुष्षमायामिति वर्त्तते, सन्तोऽपि लघवः-तुच्छाः प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसाराः इत्वरा-अल्पकालाः गृहिणां-गृहस्थानां कामभोगाः-मदनकामप्रधानाः शब्दादयो विषया विपाककटवश्च, न देवानामिव विपरीताः, अतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति द्वितीयं

स्थानम् २ । तथा भूयश्च स्वातिबहुला मनुष्याः दुष्षमायामिति वर्त्तते एव, पुनश्च स्वातिबहुला मायाप्रचुरा मनुष्या इति प्राणिनो, न कदाचित् विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहितानां च कीदृक् सुखं ?, तथा तद्बन्धहेतुत्वेन दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेणेति, संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम् ३ । पाठान्तरं वा तथा–भूयश्च सातबहुला मनुष्याः, भुक्तेष्वपि कामभोगेषु पुनरपि सुखाभिलाषिण एव मनुष्याः, अतः किं कामभोगैः ? इति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम् ३ । तथा इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति, इदं चानुभूयमानं मम श्रामण्यमनुपालयतो दुःखं शारीरमानसं कर्मफलं परीषहजनितं न चिरकालमुपस्थातु शीलं भविष्यति, श्रामण्यपालनेन परीषहनिराकृतेः कर्म्मनिर्जरणात्, संयमराज्यप्राप्तेः, इतरथा महानरकादौ विपर्ययः, अतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति चतुर्थं स्थानम् ४ । तथा ओमजणपुरक्कारमिति न्यूनजनपूजा, प्रव्रजितो हि धर्मप्रभावाद्राजामात्यादिभिरभ्युत्थानासनाञ्जलि-प्रग्रहादिभिः पूज्यते, उत्प्रव्रजितेन तु न्यूनजनस्यापि स्वव्यसनगुप्तयेऽभ्युत्थानादि कार्यं, अधार्मिकराजविषये च वेष्टिप्रयोक्तुः खरकर्मणो नियमत एवेदमधर्मफलं, अतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति पञ्चमं स्थानं, एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया ५। तथा वान्तस्य प्रत्यापानं भुक्तोज्झितपरिभोग इत्यर्थः, अयं च श्वशृगालादिक्षुद्रसत्त्वाचरितः सतां निन्द्यो व्याधिदुःख-जनकः, वान्ताश्च भोगाः प्रव्रज्याङ्गीकरणेन, एतत्प्रत्यापानमप्येवंभूतमेव चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम् ६ । तथा अधोगतिः–नरकतिर्यग्गतिस्तस्यां वसनं अधोगतिवासः, एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसंपत्–सामीप्येनाङ्गीकरणं यदेतदुत्प्रव्रजनं, एवं चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानम् ७। तथा दुर्लभः खलु भो ! गृहिणां धर्म्म इति प्रमादबहुलत्वाद् दुर्लभ एव,

भो! इत्यामन्त्रणे गृहस्थानां परमनिर्वृत्तिजनको धर्मः, किंविशिष्टानामित्याह–गृहवासमध्ये वसतामित्यत्र गृहशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते, तन्मध्ये वसतामनादिभवाभ्यासादकारणं स्नेहबन्धनं, एतच्चिन्तनीयमित्यष्टमं स्थानम् ८। तथा आतङ्कस्तस्य वधाय भवति, आतङ्कः–सद्योघाती विशूचिकादिरोगः से–तस्य गृहिणो धर्मबन्धुरहितस्य वधाय–विनाशाय भवति, तथा वधश्चानेकवधहेतुः, एवं चिन्तनीयमिति नवमं स्थानम् ९। तथा संकल्पः तस्य वधाय भवति, संकल्पः–इष्टानिष्टप्रयोगसंप्रयोगप्राप्तिजो मानस आतङ्कस्तस्य गृहिणः, तथा चेष्टायोगात् मिथ्याविकल्पाभ्यासेन ग्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवति इत्येतच्चिन्तनीयमिति दशमं स्थानम् १०। तथा सोपक्लेशो गृहवास इति सहोपक्लेशैः सोपक्लेशो गृहिवासो–गृहाश्रमः, उपक्लेशाः–कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः पण्डितजनगर्हिताः शीतोष्णश्रमादयः, घृतलवणचिन्तादयश्चेत्येवं चिन्तनीयमित्येकादशं स्थानं ११। तथा निरुपक्लेशः पर्याय इति, एभिरेवोपक्लेशै रहितः प्रव्रज्यापर्यायः, अनारंभी कुचिन्तापरिवर्जितः श्लाघनीयो विदुषामित्येवं चिन्तनीयमिति द्वादशं स्थानं १२। तथा बन्धो गृहवासः सदा तद्धेत्वनुष्ठानात्, कोशकारकीटकवत् इत्येतच्चिन्तनीयं इति त्रयोदशं स्थानं १३। तथा मोक्षः पर्यायोऽनवरतं कर्मनिगडविगमान्मुक्तवदित्येवं चिन्तनीयमिति चतुर्दशं स्थानं १४। अत एव सावद्यो गृहवास इति सावद्यः–सपापः प्राणातिपातमृषावादादिप्रवृत्तेरित्येतच्चिन्तनीयमिति पञ्चदशं स्थानम् १५। एवमनवद्यः पर्याय इत्यपाप इत्यर्थः, अहिंसादिपालनात्मकत्वादेतच्चिन्तनीयमिति षोडशं स्थानम् १६। तथा बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति, बहुसाधारणाः–चौरराजकुलादिसामान्या गृहिणां–गृहस्थानां कामभोगाः पूर्ववत्, एतच्चिन्तनीयमिति सप्तदशं

पुण्यपापं प्रत्येकं प्रत्येकं-पृथक् पृथक् येनानु-
स्थानम् १७। तथा प्रत्येकं पुण्यपापमिति, मातापितृकलत्रादिनिमित्तमप्यनुष्ठितं पुण्यपापं प्रत्येकं प्रत्येकं-पृथक् पृथक् येनानु-
ष्ठितं तस्य कर्तुरेवैतदिति भावार्थः। एवमष्टादशं स्थानम् १८। एतदन्तर्गतो गृह्याभिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽप्येवं,
अन्ये तु व्याचक्षते-सोपक्लेशो गृहिवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं गृहावे, एवं च बहुसाधारणा गृहिणां
कामभोगा इति चतुर्दशं स्थानं, प्रत्येकं पुण्यपापमिति पञ्चदशमं स्थानं, शेषाण्यभिधीयन्ते, तथाऽनित्यं खल्वित्यनि-
त्यमेव नियमतो भो! इत्यामन्त्रणे मनुष्याणां-पुंसां जीवितमायुः, एतदेव विशेष्यते-कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलं सोपक्रम-
त्वादनेकोपद्रवविषयत्वादत्यन्तासारं, तदलं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति षोडशं स्थानं १६। तथा बहुं च खलु भोः!
पापं कर्म्म प्रकृतं बहु च चशब्दात् क्लिष्टं च खलुशब्दोऽवधारणे, बहुं च पापकर्म्म चारित्रमोहनीयादि, प्रकृतं-निर्वर्तितं ममेति
गम्यते, श्रामण्यप्राप्तावप्येवं क्षुद्रबुद्धिप्रवृत्तेः, नहि प्रभूतक्लिष्टकर्म्मरहितानामेवमकुशला बुद्धिर्भवति, अतो न किञ्चिद्गृहा-
श्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति सप्तदशं स्थानं १७। पावाणं चेत्यादि, पापानां च-अपुण्यरूपाणां चशब्दात्पुण्यरूपाणां च,
खलु भोः! कृतानां कर्म्मणां, खलुशब्दः कारितानुमतविशेषणार्थः, भो इति शिष्यामन्त्रणे, कृतानां-मनोवाक्काययोगैर्निर्वर्तितानां
निर्वर्तितानां कर्मणां-ज्ञानावरणीयाद्यसातावेदनीयादीनां प्राक्-पूर्वमन्यजन्मसु दुश्चरितानां-प्रमादकषायदुश्चरित-
जनितानि, दुश्चरितानि कारणे कार्योपचारात्, दुश्चरितहेतूनि वा दुश्चरितानि, कार्ये कारणोपचारात्, एवं दुष्पराक्रान्तानां-
मिथ्यादर्शनाविरतिजदुष्पराक्रान्तजनितानि दुष्पराक्रान्तानि, हेतौ फलोपचारात्, दुष्पराक्रान्तहेतूनि वा दुष्पराक्रान्तानि,
फले हेतूपचारात्, इह च दुश्चरितानि मद्यपानाश्लीलानृतभाषणादीनि, दुष्पराक्रान्तानि तु वधबन्धनादीनि, तदर्माणां एवं-

भूतानां कर्मणां वेदयित्वाऽनुभूय, फलमिति वाक्यशेषः, किं?, मोक्षो भवति-प्रधानपुरुषार्थो भवति, नास्त्यवेदयित्वा-न भवति अननुभूय, अनेन सकर्मकमोक्षव्यवच्छेदमाह-इष्यते च स्वल्पकर्मोपेतानां कैश्चित्सहकारिनिरोधतस्तत्फलादानयादिभिस्तत्, तदपि नास्त्यवेदयित्वा मोक्षः, तथारूपत्वात् कर्मणः, स्वफलादाने कर्मत्वायोगात्, तपसा वा क्षपयित्वा-अनशनप्रायश्चित्तादिना वा विशिष्टक्षायोपशमिकशुभभावरूपेण तपसा प्रलयं नीत्वा, इह च वेदनमुदयप्राप्तस्य व्याधेरिवानारब्धोपक्रमस्य क्रमशः, अन्यानिबन्धनपरिक्लेशेन, तपःक्षपणं तु सम्यगुपक्रमेणानुदीर्णोदीरणदोषक्षपणवत्, अन्यनिमित्तमुपक्रमेणापरिक्लेशमित्यतस्तपोऽनुष्ठानमेव श्रेय इति, न किञ्चिद्दुहाधमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमित्यष्टादशं पदं भवति-अष्टादशं स्थानं भवति १८। २१। भवति चात्र श्लोकः, अत्रेति अष्टादशस्थानार्थव्यतिकरे, उक्तानुक्तार्थसंग्रहपर इत्यर्थः, श्लोक इति च जातिपरो निर्देशः, ततश्च श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रभूतश्लोकोपन्यासेऽपि न विरोधः—

जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा। से तत्थ मुच्छिए वाले, आयइं नावबुज्झइ ॥४८२॥

जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं। सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४८३ ॥

जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो। देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥४८४॥

जया अ पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो। राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४८५ ॥

जया अ माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो। सिट्ठि व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ॥४८६॥

जया अ थेरओ होइ, समइक्कंतजुव्वणो । मच्छुव्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४८७ ॥
जया अ कुकुडुंबस्स, कुतत्तीहिं विहम्मइ । हत्थी व बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४८८ ॥
पुत्तदारपरीकिन्नो, मोहसंताणसंतओ । पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४८९ ॥

जया येति-यदा चैवमष्टादशसु व्यावर्त्तनकारणेषु सत्स्वपि जहाति-त्यजति धर्मं-चारित्रलक्षणं, अनार्य इत्यनार्य इवा-नार्यो-म्लेच्छचेष्टितः, किमर्थमित्याह-भोगकारणात्-शब्दादिभोगनिमित्तं स-धर्मत्यागी, तत्र-तेषु भोगेषु मूर्च्छितो-गृद्धो बालोऽज्ञः, आयतिं-आगामिकालं नावबुध्यते-न सम्यगवगच्छतीति ॥ ४८२ ॥ एतदेव दर्शयति-जया उत्ति, यदाऽवधावितोऽपसृतो भवति संयमसुखविभूतेः, उत्प्रव्रजित इत्यर्थः, इन्द्रो वेति-देवराज इव पतितः क्ष्मां-क्ष्मां गतः, स्वविभवभ्रंशेन भूमौ पतित इतिभावः, क्ष्मा-भूमिः, सर्वधर्मपरिभ्रष्टः-सर्वधर्मेभ्यः-क्षान्त्यादिभ्यः आसेवितेभ्योऽपि यावत्प्रतिज्ञमननुपालनात् लौकिकेभ्योऽपि वा गौरवादिभ्यः परिभ्रष्टः-सर्वतश्च्युतः, स पतितो भूत्वा पश्चान्मनाग् मोहावसाने परितप्यते, किमिदमकार्यं मयानुष्ठितमित्यनुतापं करोतीति ॥ ४८३ ॥ जया येति, यदा च वन्द्यो भवति श्रमणपर्यायस्थो नरेन्द्रादीनां पश्चाद्भवति उन्निष्क्रान्तः सन्नवन्द्यः तदा देवता इव काचिदिन्द्रवर्जा स्थानच्युता सती स पश्चात्परितप्यते इति एतत्पूर्ववदेवेति ॥ ४८४ ॥ जया वेति, यदा च पूज्यो भवति वस्त्रपात्रादिभिः श्रामण्यसामर्थ्याल्लोकानां पश्चाद्भवत्युत्प्रव्रजितोऽपूज्यो लोकानामेव तदा राजेव राज्यपदभ्रष्टो महतो भोगाद्वियुक्तः (विप्रमुक्तः) स पश्चात्प-

रितप्यत एवेति पूर्ववदेवेति ॥ ४८५ ॥ तथा जया येति, यदा च मान्यो भवति अभ्युत्थानाज्ञाकरणादिना माननीयः शीलप्रभावेण पश्चाद्भवत्यमान्यस्तत्परित्यागेन, तदा श्रेष्ठीव कर्बटे-महाक्षुद्रसन्निवेशे क्षिप्तोऽमात्यः सत्परितप्यत, इति, एतत्समानं पूर्वेणेति ॥ ४८६ ॥ जया येति, यदा च स्थविरो भवति स त्यक्तसंयमो वयःपरिणामेन, एतद्विशेषप्रदर्शनायाह-समतिक्रान्तयौवनः, एकान्तस्थविर इतिभावः, तदा विपाककटुकत्वाद्भोगानां मत्स्य इव गलं-बडिशं गिलित्वाऽभिगृह्य तथाविधकर्मलोहकण्टकविद्धः सन् स पश्चात्परितप्यत इत्येतदपि समानं पूर्वेणेति ॥ ४८७ ॥ एतदेव स्पष्टयति-जया य कुकुडुंबस्सेत्यादि, कुकुटुम्बस्य-कुत्सितकुटुम्बस्य कुतप्तिभिः-कुत्सितचिन्ताभिरात्मनः संतापकारिणीभिर्विहन्यते-विषयभोगान् प्रति विघातं नीयते तदा स मुक्तसंयमः सन् परितप्यते पश्चात्, क इव ?-यथा हस्ती कुटुम्बबन्धनबद्धः परितप्यते ॥ ४८८ ॥ एतदेव स्पष्टयति-पुत्रदारेति, पुत्रदारपरिकीर्णो-विषयसेवनात्पुत्रकलत्रादिभिः सर्वतो विक्षिप्तो मोहसन्तानसन्ततो-दर्शनादिमोहनीयकर्मप्रवाहेण व्याप्तः, क इव-पङ्कावसन्नो यथा नागः-कर्दमावमग्नो वनगज इव स पश्चात्परितप्यते-हा ! हा ! किं मयेदं असमञ्जसमनुष्ठितमिति ॥ ४८९ ॥

अज्ज आहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ। जइऽहं रमंतो परिआए, सामन्ने जिणदेसिए ॥४९०॥

देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिणं। रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥ ४९१ ॥

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं, रयाण परिआइ तहाऽरयाणं।

निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं, रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥ ४९२ ॥

धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गिविज्झाअमिवऽप्पतेअं ।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला, दाढुड्डिअं घोरविसं व नागं ॥ ४९३ ॥

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणंमि ।
चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥ ४९४ ॥

भुंजित्तु भोगाइं पसज्झचेअसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं, बोही अ से नो सुलहा पुणो पुणो ॥ ४९५ ॥

कश्चित् सचेतनो नर एवं च परितप्यत इत्याह—अज्जत्ति, अद्य तावदहं-अद्य-अस्मिन् दिवसेऽहमित्यात्मनिर्देशे, गणी स्यां-आचार्यो भवेयं, भावितात्मा-प्रशस्तआगम(योग)भावनाभिः, बहुश्रुत-उभयलोकहितबह्वागमयुक्तः, यदि किं स्यादित्याह-यदि अहमरमिष्यं-रतिमकरिष्यं, पर्याये-प्रव्रज्यारूपे, सोऽनेकभेद इत्याह-श्रामण्ये-श्रमणानां सम्बन्धिनि, सोऽपि शाक्यादिभेदभिन्न इत्याह-जिनदेशिते-निर्ग्रन्थसम्बन्धिनीति ॥ ४९० ॥ अवधानोत्प्रेक्षिणः स्थिरीकरणार्थमाह-देवलोकसमाणोत्ति, देवलोकसमानस्तु-देवलोकसदृश एव पर्यायः-प्रव्रज्यारूपो महर्षीणां-

रितप्यत एवेति पूर्ववदेवेति ॥ ४८५ ॥ तथा जया येति, यदा च मान्यो भवति अभ्युत्थानाज्ञाकरणादिना माननीयः शीलप्रभावेण पश्चाद्भवत्यमान्यस्तत्परित्यागेन, तदा श्रेष्ठीव कर्बटे-महाक्षुद्रसन्निवेशे क्षिप्तोऽमात्यः सत्परितप्यत, इति, एतत्समान पूर्वेणेति ॥ ४८६ ॥ जया येति, यदा च स्थविरो भवति स त्यक्तसंयमो वयःपरिणामेन, एतद्विशेष-प्रदर्शनाथाह-समतिक्रान्तयौवनः, एकान्तस्थविर इतिभावः, तदा विपाककटुकत्वाद्भोगानां मत्स्य इव गलं-वडिशं गिलित्वाऽभिगृह्य तथाविधकर्मलोहकण्टकविद्धः सन् स पश्चात्परितप्यत इत्येतदपि समानं पूर्वेणेति ॥ ४८७ ॥ एतदेव स्पष्टयति-जया य कुकुडुंबस्सेत्यादि, कुकुडुम्बस्य-कुत्सितकुटुम्बस्य कुतप्तिभिः-कुत्सितचिन्ताभिरात्मनः संतापकारिणीभिर्विहन्यते-विषयभोगान् प्रति विघातं नीयते तदा स भुक्तसंयमः सन् परितप्यते पश्चात्, क इव ?-यथा हस्ती कुकुडुम्बबन्धनबद्धः परितप्यते ॥ ४८८ ॥ एतदेव स्पष्टयति-पुत्रदारेति, पुत्रदारपरिकीर्णो-विषयसेवनात्पुत्रकलत्रादिभिः सर्वतो विक्षिप्तो मोहसन्तानसन्ततो-दर्शनादिमोहनीयकर्मप्रवाहेण व्याप्तः, क इव-पङ्कावसन्नो यथा नागः-कर्दमावमग्नो वनगज इव स पश्चात्परितप्यते-हा ! हा ! किं मयेदं असमञ्जसमनुष्ठितमिति ॥ ४८९ ॥

अज्ज आहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ। जइऽहं रमंतो परिआए, सामन्ने जिणदेसिए ॥४९०॥

देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिणं। रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥ ४९१ ॥

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं, रयाण परिआइ तहाऽरयाणं।

तथा दुर्नामधेयं च-पुराणः पतित इति
यदुतायशः-अपराक्रमकृतं न्यूनत्वं, तथाऽकीर्त्तिरदानपुण्यफलप्रवादरूपा, कस्येत्याह-च्युतस्य-धर्मादुत्प्रव्रजि-
कुत्सितनामधेयं च भवति, क्केत्याह-पृथग्जने-सामान्यलोकेऽपि, आस्तां विशिष्टलोके, तथा संभिन्नवृत्तस्य चाखण्डनीयखण्डित-
तस्येतिभावः, तथाऽधर्मसेविनः-कलत्रादिनिमित्तं षट्कायोपमर्द्दकारिणः, इति ॥ ४९४ ॥ अस्यैव विशेषापायमाह-भुंजित्तु
चारित्रस्य च क्लिष्टकर्मबन्धाद् अधस्ताद्गतिः-नरकेषु अवपात (पूपपात) प्रकटेन चित्तेन तथाविधं अज्ञोचितफलं
त्ति, स-उत्प्रव्रजितो भुक्त्वा भोगान्-शब्दादीन् प्रसह्यचेतसा-धर्म्मनिरपेक्षतया गतिं च गच्छत्यनभिध्यातां-
कृत्वाऽभिनिर्वर्त्यासंयमं कृष्याद्यारम्भरूपं बहुं-असन्तोषात्प्रभूतं स इत्थंभूतो मृतः सन् दुःखजननीं, बोधिश्चा-
अभिध्याता-इष्टा न तामनिष्टामित्यर्थः, काचित्सुखाऽप्येवंभूता भवत्यत आह-दुःखां-प्रकृत्यैवासुन्दरां
स्य जिनधर्मप्राप्तिश्चास्योन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा पुनः पुनः-प्रभूतेष्वपि जन्मसु दुर्लभैव, प्रवचनविराधकत्वादिति ॥ ४९५ ॥

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो, दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ? ॥ ४९६ ॥

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥ ४९७ ॥

सुसाधूनां, रतानां-सक्तानां, पर्याय एवेति गम्यते, एतदुक्तं भवति, यथा देवलोके देवाः प्रेक्षणकादिव्यापृता अदीनमनसः तिष्ठन्त्येवं सुसाधवोऽपि, ततोऽधिकं भावतः प्रत्युपेक्षणादिक्रियायां व्यापृताः, उपादेयविशेषत्वात्प्रत्युपेक्षणादेरिति देवलोकसमान एव पर्यायो महर्षीणां रतानामिति। अरतानां च-भावतः सामाचार्यसक्तानां च, चशब्दात् विषयाभिलाषिणां च मयवल्लिंगविडम्बकानां क्षुद्रसत्त्वानां महानरकसदृशो-रौरवादितुल्यस्तत्कारणत्वान्मानसदुःखातिरेकात् तथा विडम्बनाचेति ॥ ४९१ ॥ एतदुपसंहारेणैव निगमयन्नाह-अमर त्ति, अमरोपमं उक्तन्यायाद्देवसदृशं ज्ञात्वा-विज्ञाय सौख्यमुत्तमं-प्रधानं प्रशमसौख्यं, केषामित्याह-रतानां पर्याये-सक्तानां सम्यक्प्रत्युपेक्षणादिक्रियारूपश्रामण्ये, तथा अरतानां पर्याय एव, किमित्याह-नरकोपमं-नरकतुल्यं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं-प्रधानं, उक्तन्यायात्, यस्मादेवं रतारतविपाकस्तस्माद्रमेतामर्क्ति कुर्यात्, क्वेत्याह-पर्याये उक्तस्वरूपे पंडितः-शास्त्रार्थज्ञ इति ॥ ४९२ ॥ पर्यायच्युतस्यैहिकं दोषमाह-धम्माउ इति, धर्माद् श्रमणधर्माद्भ्रष्टं-च्युतं, श्रियोऽपेतं-तपोलक्ष्म्या अपगतं, यज्ञाग्निमग्निष्टोमाधनलं विध्यातमिव यागावसानेऽल्पतेजसं, अल्पशब्दोऽभावे, तेजःशून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः, हीलयन्ति-कदर्थयन्ति पतितस्त्वमिति पंक्त्यपसारणादिना, एनं-उन्निष्क्रान्तं दुर्विहितमुन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनं कुशीलास्तत्संयोगो(सङ्गो)चिता लोकाः, स एव विशेष्यते-दाढुद्धिअंति, प्राकृतशैल्याद्धृतदंष्ट्रं-उत्खातदंष्ट्रं घोरविषमिव-रौद्रविषमिव नागं-सर्प, यज्ञाग्निसर्पोपमानं लोकनीत्या प्रधानभावादप्रधानभावख्यापनार्थमिति ॥ ४९३ ॥ एवमस्य भ्रष्टशीलस्यौघत ऐहिकं दोषमभिधायैहिकामुष्मिकमाह-इहेवत्ति, इहैव-इहलोक एवाधर्म्म इति, अयमधर्म्मः फलेन दर्शयति-

यदुतायशः–अपराक्रमकृतं न्यूनत्वं, तथाऽकीर्त्तिरदानपुण्यफलप्रवादरूपा, तथा दुर्नामधेयं च–पुराणः पतित इति कुत्सितनामधेयं च भवति, केत्याह–पृथग्जने–सामान्यलोकेऽपि, आस्तां विशिष्टलोके, कस्येत्याह–च्युतस्य–धर्मादुत्प्रव्रजितस्येतिभावः, तथाऽधर्मसेविनः–कलत्रादिनिमित्तं षट्कायोपमर्दकारिणः, तथा संभिन्नवृत्तस्य चाखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च क्लिष्टकर्मबन्धाद् अधस्ताद्गतिः–नरकेषु अवपात (पूपपात) इति ॥४९४॥ अस्यैव विशेषापायमाह–भुंजित्तु त्ति, स–उत्प्रव्रजितो भुक्त्वा भोगान्–शब्दादीन् प्रसह्यचेतसा–धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन तथाविधं अज्ञोचितफलं कृत्वाऽभिनिर्वर्त्यासंयमं कृष्याद्यारम्भरूपं बहुं–असन्तोषात्प्रभूतं स इत्थंभूतो मृतः सन् गतिं च गच्छत्यनभिध्यातां–अभिध्याता–इष्टा न तामनिष्टामित्यर्थः, काचित्सुखाऽप्येवंभूता भवत्यत आह–दुःखां–प्रकृत्यैवासुन्दरां दुःखजननीं, बोधिश्चास्य जिनधर्मप्राप्तिश्चास्योन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा पुनः पुनः–प्रभूतेष्वपि जन्मसु दुर्लभैव, प्रवचनविराधकत्वादिति ॥ ४९५ ॥

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो, दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ? ॥ ४९६ ॥

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥ ४९७ ॥

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ, उविंति(त)वाया व सुदंसणं गिरिं ॥ ४९८ ॥

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो, आयं उवायं विविहं विआणिआ ।
काएण वाया अदु माणसेणं, तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि ॥ ४९९ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ रइवक्का पढमा चूला समत्ता १ ॥

यस्मादेवं तस्मादुत्पन्नदुःखोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजेदित्याह—इमस्सेति, अस्य तावदित्यात्मनिर्देशे, नारकस्य जन्तोः नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः, दुःखोपनीतस्य—सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य, क्लेशवृत्तेरेकान्तक्लेशचेष्टितस्य सतो नरक एव पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं च यथाकर्मप्रत्ययं, किमङ्ग पुनर्ममेदं संयमारतिनिष्पन्नं मनोदुःखं तथाविधक्लेशवृत्ति-(दोष)रहितं ?, एतत् क्षीयत एव, एतच्चिन्तनेन नोत्प्रव्रजितव्यमिति ॥ ४९६ ॥ विशेषेणैतदेवाह—न मेत्ति, न मम चिरं-प्रभूतकालं दुःखमिदं—संयमारतिलक्षणं भविष्यति, किमित्याह—अशाश्वती—प्रायो यौवनकालावस्थायिनी भोगपिपासा—विषयतृष्णा, जन्तोः—प्राणिनः, अशाश्वतीत्व एव कारणान्तरमाह—न चेच्छरीरेणानेनापयास्यति—न यदि शरीरेणानेन करणभूतेन वृद्धस्यापि सतोऽपयास्यति, तथापि किमाकुलत्वं ?, यतोऽपयास्यति जीवितपर्ययेण—जीवितस्य व्यप-

गमेन–मरणेनैवं निश्चितः स्यादिति ॥ ४९७ ॥ अस्यैव फलमाह–जस्सेवत्ति, यस्येति–साधोरेवमुक्तेन प्रकारेणात्मा तु–तुशब्दस्यैवकारार्थत्वादात्मैव भवेन्निश्चितो दृढः यः स त्यजेद्देहं कचिद्विघ्न उपस्थिते, न तु धर्मशासनं–न पुनर्धर्माज्ञामिति, तं च तादृशं धर्मे निश्चितं न प्रचालयन्ति–संयमस्थानान्न प्रकम्पयन्ति इन्द्रियाणि–चक्षुरादीनि। निदर्शनमाह–उपपातवाता इव–संपतत्पवना इव सुदर्शनं गिरिं–मेरुं, एतदुक्तं भवति–यथा मेरुं वाता न चालयन्ति, तथा तमपीन्द्रियाणीति ॥ ४९८ ॥ उपसंहरन्नाह–इच्चेवत्ति, इत्येवमध्ययनोक्तं दुष्प्रयोगजीवित्वादि संप्रेक्ष्याऽऽदित आरभ्य, यथा यद्दृष्ट्वा बुद्धिमान्नरः सम्यग्बुद्ध्युपेत आयमुपायं विविधं विज्ञाय आयः–सम्यग्ज्ञानादेरुपायस्तत्साधनप्रकारः कालविनयादिर्विविधोऽनेकप्रकारस्तं ज्ञात्वा, किमित्याह–कायेन वाचाऽथवा मनसा–त्रिभिरपि करणैर्यथाप्रवृत्तैः, त्रिगुप्तिगुप्तः सन् जिनवचनमर्हदुपदेशमधितिष्ठेत् यथाशक्त्या तदुक्तैकक्रियापालनपरो भूयाद् भावायसिद्धौ तत्त्वतो मुक्तिसिद्धेः ॥ ४९९ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

समाप्तं रतिवाक्याध्ययनमिति चूला १ ॥



व्याख्यातं प्रथमचूडाध्ययनम्, अधुना द्वितीयमारभ्यते, अस्यौघतः सम्बन्धः प्रतिपादित एव, विशेषतस्त्वनन्तराध्ययने सीदतः स्थिरीकरणमुक्तं, इह तु विविक्तचर्योच्यत इत्ययमभिसम्बन्धः—

चूलिअं तु पवक्खामि, सुअं केवलिभासिअं ।
जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥ ५०० ॥
अणुसोअपट्ठिअबहुजणंमि, पडिसोअलद्धलक्खेणं ।
पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं ॥ ५०१ ॥
अणुसोअसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ५०२ ॥
तम्हा आयारपरक्कमेणं, संवरसमाहिबहुलेणं ।
चरिआ गुणा अ नियमा, अ हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥ ५०३ ॥

चूलियंति, चूडां-प्राग्व्यावर्णितशब्दार्थां तुशब्दविशेषितां भावचूडां, प्रवक्ष्यामीति-प्रकर्षेणावसरप्राप्ताभिधानलक्षणेन कथयामि, श्रुतं केवलिभाषितमिति, इयं हि चूडा श्रुतं-श्रुतज्ञानं वर्त्तते, कारणे कार्योपचाराद्, एतच्च केवलिभाषितं-अनन्तरमेव केवलिना प्ररूपितमिति सफलं विशेषणं, एवं च वृद्धवादः-"कयाचिदार्ययाऽसहिष्णुः कुरगडुकप्रायः संयतश्चातुर्मासिकादौ उपवासं कारितः, स तदाराधनया मृत एव, ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्नाऽसौ तीर्थकरं पृच्छामीति गुणावर्जित-

देवतया नीता श्रीसीमन्धरस्वामिपादान्तिके, परिपृष्टो भगवान् , अदुष्टचित्ताऽघातिकेत्यभिधाय भगवतेमां चूडां ग्राहितेति,"
इदमेव विशेष्यते-यां श्रुत्वा-आकर्ण्य सपुण्यानां-कुशलानुबन्धिपुण्ययुक्तानां प्राणिनां, धर्मे-अचिन्त्यचिन्तामणिकल्पे
चारित्रधर्मे उत्पद्यते मतिः-संजायते भावतः श्रद्धा, अनेन चारित्रं चारित्रबीजं चोपजायत इत्येतदुक्तं भवति ॥ ५०० ॥
एतद्धि प्रतिज्ञासूत्रं, इह चाध्ययने चर्यागुणा अभिधेयास्तत्प्रवृत्तौ मूलपादभूतमिदमाह-अणुसोएत्ति, अनुश्रोतःप्रस्थिते-
नदीपूरप्रवाहपतितकाष्ठवद् विषयकुमार्गद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते बहुजने तथाविधाभ्यासात् प्रभूतलोके तथाप्रस्थानेनो-
दधिगामिनि, किमित्याह-प्रतिश्रोतोलब्धलक्ष्येण-द्रव्यतस्तस्यामेव नद्यां कथञ्चिद्देवतानियोगात् प्रतीपश्रोतःप्राप्तलक्ष्येण,
भावतस्तु विषयादिवैपरीत्यात्कथञ्चिदवाप्तसंयमलक्ष्येण प्रतिश्रोत एव दुरपाकरणीयमप्यपाकृत्य विषयादि संयमलक्ष्याभि-
मुखमेवात्मा-जीवो दातव्यः-प्रवर्त्तयितव्यो भवितुकामेन-संसारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना, न
क्षुद्रजनाचरितान्युदाहरणीकृत्यासन्मार्गप्रवणं चेतोऽपि कर्तव्यमपित्वागमैकप्रवणेनैव भवितव्यमिति, उक्तं च-"निमित्तमासाद्य
यदेव किञ्चन, स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः । तपःश्रुतज्ञानधनास्तु साधवो, न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ॥ १ ॥
तथा-कपालमादाय विपन्नवाससा, वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता । विहाय लज्जां न तु धर्मवैशसे, सुरेन्द्रसार्थेऽपि संमाहितं
मनः ॥ २ ॥ तथा-पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः, प्राप्यापदं सघृण एव विमध्यबुद्धिः । प्राणात्ययेऽपि न तु साधुजनः
स्ववृत्तं, वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥ ३ ॥" इत्यलं प्रसंगेनेति ॥ ५०१ ॥ अधिकृतमेव स्पष्टयन्नाह-अणुसोएत्ति,
अनुश्रोतःसुखो लोकः उदकनिम्नाभिसर्प्पणवत् प्रवृत्याऽनुकूलविषयादिसुखो लोकः, कर्मगुरुत्वात्, प्रतिश्रोत एव त-

स्माद्विपरीत आश्रवः-इन्द्रियविजयादिरूपः परमार्थपेशलः कायवाङ्मनोव्यापारः, आश्रमो वा-व्रतग्रहणादिरूपः सुविहितानां-साधूनां, उभयलोके फलमाह-अनुश्रोतः संसारः शब्दादिविषयानुकूल्यं संसार एव, कारणे कार्योपचाराद्, यथा "विषं मृत्युः, दधि त्रपुषी प्रत्यक्षो ज्वरः," प्रतिश्रोत उक्तलक्षणः, तस्येति पञ्चम्यर्थे षष्ठी "सुपां सुपो भवन्तीति" वचनात्, तस्मात्संसारादुत्तारः उत्तरणमुत्तारो, हेतौ फलोपचारात्, यथा-"आयुर्घृतं, तन्दुलान्वर्षति पर्जन्य" इति ॥५०२॥ तम्हेत्ति, यस्मादेतदेवमनन्तरोदित तस्मादाचारपराक्रमेणेत्याचारे-ज्ञानादौ पराक्रमः-प्रवृत्तिबलं यस्य स तथाविध इति, गमकत्वाद्बहुव्रीहिः, तेनैवंभूतेन साधुना संवरसमाधिबहुलेनेति-संवरे-इन्द्रियादिविषये समाधिः-अनाकुलत्वं बहुलं-प्रभूतं यस्य स तथाविध इति, समासः पूर्ववत्, तेनैवंविधेन मताऽप्रतिघाताय विशुद्धये च किमित्याह-चर्या-भिक्षुभावसाधनी बाह्याऽनियतवासादिरूपा गुणाश्च-मूलोत्तरगुणरूपाः, नियमाश्च-उत्तरगुणानामेव पिण्डविशुद्ध्यादीनां स्वकालासेवननियोगा भवन्ति, साधूनां द्रष्टव्या इति, एते चर्यादयः साधूनां द्रष्टव्या भवन्ति, सम्यग्ज्ञानासेवनप्ररूपणारूपेणेति ॥ ५०३ ॥

अनिएअवासो समुआणचारिआ, अन्नायउञ्छं पइरिक्कया अ ।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य, विहारचरिआ इसिणं पसत्था ॥ ५०४ ॥
आइन्नओमाणविवज्जणा अ, ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे ।
संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा ॥ ५०५ ॥

अमज्जमंसासि अमच्छरीआ, अभिक्खणं निव्विगइं गया अ ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ५०६ ॥
ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिंपि कुज्जा ॥ ५०७ ॥
गिहिणो वेआवडिअं न कुज्जा, अभिवायणवंदणपूअणं वा ।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ५०८ ॥

चर्यामाह–अनिएएति, अनियतवासो मासकल्पादिना अनिकेतवासो वा–अगृहे–उद्यानादौ वासः, तथा समुदा-
नचर्या–अनेकत्र याचितभिक्षाचरणं, अज्ञातोञ्छं–विशुद्धोपकरणग्रहणविषयं, पइरिक्कया य–विजनैकान्तसेविता च, अल्पो-
पधित्वं–अनुल्बणयुक्तस्तोकोपधिसेवित्वं, कलहविवर्जना च–तथा तद्वासिजनभण्डनविवर्जना, विवर्जनं विवर्जना श्रवणकथा-
दिनापि वर्जनमित्यर्थः । विहारचर्या–विहरणस्थितिः, विहरणमर्यादा, इयमेवंभूता ऋषीणां–साधूनां, प्रशस्ता–व्या
क्षेपाभावादाज्ञापालनेन भावचरणसाधनात्पवित्रेति ॥ ५०४ ॥ विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्तेत्युक्तं, तद्विशेषोपदर्शनायाह–आइ-
ण्णेत्ति–आकीर्णमवमानविवर्जना च विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्तेति, तत्राकीर्णं–राजकुलसंखड्यादि, अवमानं–स्वपक्षपर-

पक्षप्राभृतजं लोकाबहुमानादि, अस्य विवर्जनं, आकीर्ण हस्तपादादिलूषणदोषात्, अवमाने अलाभाधाकर्मादिदोषादिति, तथोत्सन्नदृष्टाहृतं-प्राय उपलब्धमुपनीतं, उत्सन्नशब्दः प्रायो वृत्तौ वर्तते, यथा "देवा उस्सन्नं सायं वेयणं वेयंति", किमित्याह-भक्तपानं-ओदनारनालादि, इदं चोत्सन्नदृष्टाहृतं, यत्रोपयोगः शुद्ध्यति, त्रिगृहान्तरादारत इत्यर्थः, "भिक्खग्गाही एगत्थ कुणइ, बीओ अ दोसु उवओगमिति" वचनात्, इत्येवम्भूतमुत्सन्नं दृष्टाहृतं भक्तपानमृषीणां प्रशस्तमिति योगः, तथा संसृष्टकल्पेन-हस्तमात्रकादिसंसृष्टविधिना चरेद्भिक्षुरिति उपदेशः, अन्यथा पुरःकर्मादिदोषात्, संसृष्टमेव विशिनष्टि-तज्जातसंसृष्ट इत्यामगोरसादिसमानजातीयसंसृष्टे हस्तमात्रकादौ यतिर्यतेत-यत्नं कुर्यात्, अतज्जातसंसृष्टे संसर्जनादिदोषादिति, अनेनाष्टमप्रवचनं, तद्यथा-" संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे" इत्यादि, अत्र प्रथमो भङ्गः श्रेयान्, शेषाश्च चिन्त्या इत्यादि ॥ ५०५ ॥ उपदेशाधिकार एवेदमाह-अमद्येति, अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपः अमांसाशी च स्यादेते च मद्यमांसे लोकागमप्रतीते एव, ततश्च यत्केचनाभिदधति-आरनालादिष्वपि संधानात् ओदनाद्यपि प्राण्यङ्गत्वात्त्याज्यमिति, तदसत्, अमीषां मद्यमांसत्वायोगात्, लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्, संधानप्राण्यङ्गत्वतुल्यत्वचोदना त्वभाष्यी, अतिप्रसङ्गदोषात्, द्रवत्वशीतत्वतुल्यतया मूत्रपानभार्यागमनादिप्रसङ्गात् इत्यलं प्रसङ्गेन । अक्षरगमनिकामात्रप्रक्रमात्, तथा अमत्सरी च-न परसम्पद्द्वेषी च स्यात्, तथा अभीक्ष्णं-पुनः पुनः पुष्टकारणाभावे निर्विकृतिकश्च-निर्गतविकृतिपरिभोगश्च भवेत्, अनेन परिभोगोचितविकृतीनामप्यकारणे प्रतिषेधमाह । तथाऽभीक्ष्णं गमनागमनादिषु, विकृतिपरिभोगेऽपि चान्ये । किमित्याह-कायोत्सर्गकारी भवेत् ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत्कुर्यात्, तदशुद्धतापत्तेरिति भावः । तथा स्वाध्याययोगे-

वाचनाद्युपचारव्यापार आचाम्लादौ प्रयतोऽतिशययत्नवान्भवेत्तथैव तस्य सफलत्वात्, विपर्यये उन्मादादिदोषप्रसङ्गादिति
॥ ५०६ ॥ किंच–न पडिण्णवेज्जत्ति, न प्रतिज्ञापयेन्मासादिकल्पपरिसमाप्तौ गच्छन् भूयोऽप्यागतस्य ममैवैतानि दात-
व्यानीति न प्रतिज्ञां कारयेद् गृहस्थं, किमाश्रित्येत्याह–शयनासने शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानमिति, तत्र शयनं–
संस्तारकादि, आसनं–पीठकादि, शय्या–वसतिः, निषद्या–स्वाध्यायादिभूमिः, तथा–तेन प्रकारेण तत्कालावस्थानोचितेन
भक्तपानं–खण्डखाद्यकद्राक्षापानकादि न प्रतिज्ञापयेत्, ममत्वदोषात्, सर्वत्र एतन्निषेधमाह–ग्रामे–शालिग्रामादौ, कुले वा–
श्रावककुलादौ, नगरे–साकेतादौ, देशे वा–मध्यदेशादौ ममत्वभावं ममेदमिति, स्नेहमोहं न क्वचिदुपकरणादिष्वपि कुर्यात्
तन्मूलत्वाद् दुःखादीनामिति ॥ ५०७ ॥ उपदेशाधिकार एवाह–गिहिणोत्ति, गृहिणो–गृहस्थस्य वैयावृत्त्यं–गृहिभावो-
पकाराय तत्कर्मस्वात्मनो व्यावृत्तभावं न कुर्यात्, स्वपरोभयाश्रेयःसमायोजनदोषात्, तथाऽभिवादनं–वाङ्नमस्काररूपं,
वन्दनं–कायप्रणामलक्षणं, पूजनं च–वस्त्रादिभिः समभ्यर्चनं वा, गृहिणो न कुर्यादुक्तदोषप्रसङ्गादेव, तथैतद्दोषपरिहारायैव अ-
संक्लिष्टैः–गृहिवैयावृत्त्यादिकरणसंक्लेशरहितैः साधुभिः समं वसेन्मुनिश्चारित्रस्य–मूलगुणादिलक्षणस्य यतो–येभ्यः साधु-
भ्यः सकाशान्न हानिः, संवासतस्तदकृत्यानुमोदनादिनेत्यनागतविषयं चेदं सूत्रं, प्रणयनकाले संक्लिष्टसाध्वभावादिति ॥५०८॥

ण या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ समं वा ।
इक्कोऽवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ ५०९ ॥

संवच्छरं वावि परं पमाणं, वीअं च वासं न तहिं वसिज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ५१० ॥
जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पगेणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं ?, किं सक्कणिज्जं न समायरामि ?॥ ५११ ॥
किं मे परो पासइ ? किं च अप्पा ?, किं वाऽहं खलिअं न विवज्जयामि ? ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥ ५१२ ॥
जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥ ५१३ ॥
जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीअई संजमजीविएणं ॥ ५१४ ॥

अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥ ५१५ ॥ त्तिबेमि

इइ विवित्तचरिया चूडा समत्ता २ ॥

॥ इइ दसवेयालियं सुत्तं समत्तं ॥

"असंक्लिष्टैः समं वसे"दित्युक्तमत्र विशेषमाह–ण येति, कालदोषान्न यदि लभेत–न यदि कथञ्चित्प्राप्नुयान्निपुणं–संयमानुष्ठानकुशलं सहायं–परलोकसाधनद्वितीयं, किंविशिष्टमित्याह–गुणाधिकं वा–ज्ञानादिगुणोत्कटं वा, गुणतः समं वा–तृतीयार्थे पञ्चमी गुणैस्तुल्यं वा, वाशब्दाद्धीनमपि जात्यकाञ्चनकल्पं विनीतं वा, ततः किमित्याह–एकोऽपि संहननादियुक्तः पापानि–पापकारणान्यसदनुष्ठानानि विवर्ज्जयन्–विविधं–अनेकैः प्रकारैः सूत्रोक्तैः परिहरन्विहरेदुचितविहारेण कामेष्विच्छाकामादिष्वसज्यमानः–सङ्गमगच्छन्, एकोऽपि विहरेत्, न तु पार्श्वस्थादिपापमित्रसङ्गं कुर्यात्, तस्य दुष्टत्वात्, तथा चान्यैरप्युक्तं–" वरं विहर्त्तुं सह पन्नगैर्भवेच्छठात्मभिर्वा रिपुभिः सहोषितुम्। अधर्मयुक्तैश्चपलैरपण्डितैर्न पापमित्रैः सह वर्त्तितुं क्षमम् ॥ १ ॥ इहैव हन्युर्भुजगा हि रोषिताः, धृतासयश्छिद्रमवेक्ष्य चाऽरयः। असत्प्रवृत्तेन जनेन संगतः, परत्र चैवेह च हन्यते जनः ॥ २ ॥ " तथा–" परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत्। आत्मानं योऽभिसंधत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ? ॥ ३ ॥ " तथा–" ब्रह्महत्या सुरापानं, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुरेभिश्च सह संगमम् ॥ ४ ॥ " इत्यादि

॥ ५०९ ॥ विहारकालमानमाह–संवच्छरं ति, संवत्सरं वाप्यत्र संवत्सरशब्देन वर्षासु चातुर्मासिको ज्येष्ठावग्रह, उच्यते, तमपि, अपिशब्दात् मासमपि, परं प्रमाणं–वर्षाऋतुबद्धयोरुत्कृष्टमेकत्र निवासकालमानमेतत्, द्वितीयं च वर्षं चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, द्वितीयं वर्षं च वर्षासु चशब्दान्मासं च ऋतुबद्धे न तत्र क्षेत्रे वसेत्, यत्रैको वर्षाकल्पो मासकल्पश्च कृतः, अपि तु सङ्गदोषाद् द्वितीयं तृतीयं च परिहृत्य वर्षादिकालं ततस्तत्र वसेदित्यर्थः, सर्वथा, किं बहुना ?, सर्वत्रैव सूत्रस्य मार्गेण चरेद्भिक्षुरागमादेशेन वर्त्तेतेति भावः, तत्रापि नौघत एव यथाश्रुतग्राही स्यात्, अपि तु सूत्रस्यार्थः–पूर्वापराविरोधितन्त्रयुक्तिघटितः पारमार्थिकोत्सर्गापवादगर्भो यथाऽऽज्ञापयति–नियुङ्क्ते तथा वर्त्तेत, नान्यथा, यथेहापवादतो नित्यवासेऽपि वसतावेव प्रतिमागादि साधूनां संस्तारकगोचरादिपरिवर्त्तेन, नान्यथा, शुद्धापवादायोगात्, इत्येवं वन्दनप्रतिक्रमणादिष्वपि तदर्थं प्रत्युपेक्षणेन अनुष्ठानेन वर्त्तेत, न तु तथाविधलोकहेर्या तं परित्यजेत्, तदाशातनाप्रसङ्गादिति ॥ ५१० ॥ एवं च विविक्तचर्यावतोऽसीदनगुणोपायमाह–जो त्ति, यः साधुः पूर्वरात्रापररात्रकाले, रात्रौ प्रथमचरमयोः प्रहरयोरित्यर्थः, संप्रेक्षते सूत्रोपयोगनीत्याऽऽत्मानं कर्मभूतं आत्मनैव, करणभूतेन, कथमित्याह–किं मे कृतमिति, छान्दसत्वात्तृतीयार्थे षष्ठी, किं मया कृतं ? शक्त्यनुरूपं तपश्चरणादियोगस्य, किं च मम कृत्यशेषं–कर्त्तव्यशेषं उचितं ?, किं शक्यं–वयोऽवस्थानुरूपं वैयावृत्यादि न समाचरामि–न करोमि, तदकरणे हि तत्कालं नाशयति ॥ ५११ ॥ तथा–किं मेत्ति, किं मम [स्खलितं] परः–स्वपक्षपरपक्षलक्षणः पश्यति, किंवाऽऽत्मा कश्चिन्मनाक् संवेगापन्नः ?, किं चाऽहं ओघत एव स्खलितं न विवर्जयामीत्येवं सम्यगनुपश्यन्ननेनैव प्रकारेण स्खलितं ज्ञात्वा सम्यगागमोक्तेन विधिना भूयः पश्येत् अनागतं न

प्रतिबन्धं कुर्यात्–आगामिकालविषयं नासंयमप्रतिबन्धं करोति ॥ ५१२ ॥ कथमित्याह–जत्थेवेति, यत्रैव पश्यत्युक्तव-त्परात्मदर्शनद्वारेण क्वचित्–संयमस्थानावसरे धर्म्मोपधिप्रत्युपेक्षणादौ दुष्प्रयुक्तं–दुर्व्यवस्थितमात्मानमिति गम्यते, केने-त्याह–कायेन वाचा अथ मानसेन–मन एव मानसं, करणत्रयेणेत्यर्थः, तत्रैव–तस्मिन्नेव संयमस्थानावसरे धीरो–बुद्धि-मान् प्रतिसंहरेत्–प्रतिसंहरति य आत्मानं, सम्यग्विधिं प्रतिपद्यत इत्यर्थः, निदर्शनमाह–आकीर्णो जवादिभिर्गुणैर्जात्योऽश्व इति गम्यते, असाधारणविशेषणात्, तच्चेदं–क्षिप्रमिव–शीघ्रमेव खलिनं–कविकमिव, यथा जात्योऽश्वो नियमितगमननिमित्तं शीघ्रं खलिनं प्रतिपद्यते, एवं यो दुष्प्रयोगपरित्यागेन खलिनकल्पं सम्यग्विधिं, एतावताऽंशेन दृष्टान्त इति ॥ ५१३ ॥ यः पूर्वरात्रेत्याद्यधिकारोपसंहारायाह–जस्सरिसत्ति, यस्य साधोरीदृशाः स्वहितालोक(च)नप्रवृत्तिरूपा योगा–मनोवाक्काय-व्या-पारा जितेन्द्रियस्य–वशीकृतस्पर्शनादीन्द्रियकलापस्य धृतिमतः–संयमे सधृतिकस्य सत्पुरुषस्य–प्रमादजयात् महा-पुरुषस्य नित्यं–सर्वकालं सामायिकप्रतिपत्तेरारभ्यामरणान्तं तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं तमेवंभूतं साधुमाहुः–अभि-दधति विद्वांसो लोके–प्राणिसंघाते प्रतिबुद्धजीविनं–प्रमादनिद्रारहितजीवितशीलं, स एवंगुणयुक्तः सन् जीवति संयम-जीवितेन–कुशलाभिसंधिभावात् सर्वथा संयमप्रधानेन जीवितेनेति ॥५१४॥ शास्त्रमुपसंहरन्नाह–उपदेशसर्वतत्त्वमाह–अप्पेति, आत्मा खल्विति–खलुशब्दो विशेषणार्थः, शक्तौ सत्यां परोऽपि, सततं–सर्वकालं रक्षितव्यः–पालनीयः पारलौकिका-पायेभ्यः, कथमित्युपायमाह–सर्वेन्द्रियैः–स्पर्शनादिभिः सुसमाहितेन–निवृत्तविषयव्यापारेणेत्यर्थः, अरक्षणरक्षणयोः फलमाह–अरक्षितः सन् जातिपन्थानं–जन्ममार्गं संसारमुपैति–सामीप्येन गच्छति। सुरक्षितः पुनर्यथागममप्रमादेन

सर्वदुःखेभ्यः-शारीरमानसेभ्यो विमुच्यते-विविधं-अनेकैः प्रकारैः अपुनर्ग्रहणपरमस्वास्थ्यापादनलक्षणैर्मुच्यते विमुच्यते ॥ ५१५ ॥ इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

इति विविक्तचर्यानाम्नी द्वितीयचूला समाप्ता २ ॥

॥ समाप्तेयं दशवैकालिकस्य लघुटीका ॥

महायराया याकिन्या, धर्मपुत्रेण चिन्तिता । आचार्यहरिभद्रेण, टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥ १ ॥
दशवैकालिके टीकां विधाय यत् पुण्यमर्जितं तेन । मात्सर्यदुःखविरहाद् गुणानुरागी भवतु लोकः ॥ २ ॥

(लघुटीकाप्रणेतॄणां प्रशस्तिः-)

दशकालिकानुयोगात्, सूत्रव्याख्या पृथक्कृता । हरिभद्राचार्यकृतान्मोहाद्भक्त्याऽथवा मया ॥ ३ ॥
श्रीमद्बोधकशिष्येण, श्रीमत्सुमतिसूरिणा । विद्वद्भिस्तत्र नोद्वेगो, मयि कार्यो मनागपि ॥ ४ ॥
यस्माद् व्याख्याक्रमः प्रोक्तः, सूरिणा भद्रबाहुना । आवश्यकस्य निर्युक्तौ, व्याख्याक्रमविपश्चिता ॥ ५ ॥
सूत्रार्थः प्रथमो ज्ञेयो, निर्युक्तिमिश्रितः ततः । सर्वैर्व्याख्याक्रमैर्युक्तो, भणितव्यस्तृतीयकः ॥ ६ ॥

प्रमादकार्यविक्षेपचेतसां तदयं यया । क्रियया अवबोधार्थे, साधूनां तु पृथक्कृतः ॥ ७ ॥

लब्ध्वा मानुष्यकं जन्म, ज्ञात्वा सर्वविदां मतम् । प्रमादमोहसंमूढा, वैकल्यं ये नयन्ति हि ॥ ८ ॥

जन्ममृत्युजराव्याधिरोगशोकाद्युपद्रुते । संसारसागरे रौद्रे, ते भ्रमन्ति विडम्बिताः ॥ ९ ॥

ये पुनर्ज्ञानसम्यक्त्वचारित्रविहितादराः । भवाम्बुधिं समुल्लङ्घ्य, ते यान्ति पदमव्ययम् ॥ १० ॥

ये भव्यान् प्रतिबोध्य जैनवचनैः स्याद्वादसंभूषितै–र्निर्वाणाश्रितचेतसो विदधिरे स(त्साधुमार्गाश्रिता)न् ।

साधूनां विधिना च सूरिपदवीमारोपयाञ्चक्रिरे, ते श्रीमज्जिनदेवसूरिचरणा रक्षन्तु सङ्घं सदा ॥ ११ ॥

समाप्ता श्रीदशवैकालिकटीकेति ॥ ग्रंथाग्रं ३५००, मंगलमस्तुलेखकपाठकयोः । संवत् १६६२ वर्षे वैशाखवदि ४ भौमे लिखितं । शुभं भवतु ॥

प्रत्यन्तरे—

मूलं दयादानमुखाश्चतस्रः, शाखाः प्रशाखा नियमव्रतानि । पुष्पाणि संपत्प्रकराः फलं तु, मोक्षो भवेद् धर्मसुरद्रुमस्य ॥११॥

इति दशवैकालिकलघुटीका समाप्ता ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ मंगलमस्तु ॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ परमगुरुभ्यो नमः ॥ मंगलमस्तु ॥ संवत् १५१६ वर्षे माघ वदि १ गुरौ अद्ये हि श्रीघोघावेलाकूले महाराजाधिराजपातसाहश्रीकुतबदीन-

महिम्मदराज्ये व्यापारी तन्नियुक्तः सं०सोमदत्तपंचकुलप्रतिपत्तौ ॥ श्रीमद्धर्मभृतां वरिष्ठतपसां, पू०सत्यविशालप्रभृतीनां, महात्मनां तेषामध्ययनार्थं पुस्तकमिदमलिखापयत्, द्युम्नेन स्वार्थं तथा परोपकाराय ॥ [श्रीगणेशाय ॥ श्रीवक्रतुण्डाय ॥] शुभं भवतु ॥

श्रीआणंदविमलसूरिगुरुभ्यो नमः पं०वीरविमलगणि ।

इति भगवच्छय्यंभवश्रुतकेवलिनिर्यूढं श्रीमत्सुमतिसाधुसूरिणा भवविरहाङ्कितबृहट्टीकोद्धृतवृत्त्युपेतं

श्रीदशवैकालिकं समाप्तम् ।



श्रेष्ठिदेवचन्द्रलालभाई-जैन-पुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ॥

श्रीसुमतिसाधुसूरिकृतलघुविवरणोपेत—

श्रीदशवैकालिकसूत्रस्य

परिशिष्टानि ।



प्रथमं परिशिष्टम् ।

श्रीदशवैकालिकसूत्रस्य सूत्राणां गाथानां च अकारादिक्रमः

महिम्मदराज्ये व्यापारी तत्पुत्रः सं०सोमदत्तपंचकुलप्रतिपत्तौ ॥ श्रीमद्धर्मभृतां परिष्ठतप्रमां पू०मत्यविशालप्रभृतीनां, महात्मनां तेषामध्ययनार्थं पुस्तकमिदमलिखापयत्, धुम्नेन, स्वार्थे तथा परोपकाराय ॥ [श्रीगणेशाय ॥ श्रीरुद्रतुष्ठाय ॥] शुभं, भवतु ॥

श्रीआणंदविमलसूरिगुरुभ्यो नमः पं०श्रीरविमलगणि ।

इति भगवच्छय्यंभवश्रुतकेवलिनिर्यूढं श्रीमत्सुमतिसाधुसूरिणा भवविरहाङ्कितपद्दद्वीकोद्धृतवृत्युपेतं

श्रीदशवैकालिकं समाप्तम् ।

श्रेष्ठिदेवचन्द्रलालभाई-जैन-पुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ॥

श्रीसुमतिसाधुसूरिकृतलघुविवरणोपेत—

श्रीदशवैकालिकसूत्रस्य

परिशिष्टानि ।



प्रथमं परिशिष्टम् ।

श्रीदशवैकालिकसूत्रस्य सूत्राणां गाथानां च अकारादिक्रमः

द्वितीयं परिशिष्टम् ।

'अन्यः' इत्यादि

तृतीयं परिशिष्टम् ।

साक्षिग्रन्थानामकारादि

चतुर्थं परिशिष्टम् ।

साक्षिपाठानामकारादि

पञ्चमं परिशिष्टम् ।

विशिष्टनाम्नामकारादि

षष्ठं परिशिष्टम् ।

दर्शितान्यतिदिष्टान्युदाहरणानि

सप्तमं परिशिष्टम् ।

टीकान्तरगता व्याकरणसिद्धिः

अष्टमं परिशिष्टम् ।

टीकान्तरगता न्यायाः

न्यायः	पृष्ठाङ्कः
अक्षोपाङ्गन्यायः	७९
अन्धप्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत्	४६
एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्	८, २७, ३६, १००, १८८
सति तस्मिन्नव्यवच्छित्त्यभावात्	२१
सामान्यग्रहणेऽपि	६२

इति लघुवृत्त्युपेतस्य श्रीदशवैकालिकसूत्रस्य समाप्तानि परिशिष्टानि

इति भगवच्छय्यंभवश्रुतकेवलिभिर्दृब्धं

श्रीमत्सुमतिसाधुसूरिणा भवविरहाङ्कितवृहट्टीकोद्धृतवृत्त्युपेतं

श्रीदशवैकालिकं समाप्तम् ।

इति श्रेष्ठिदेवचन्द्रलालभाई-जैन-पुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः १०२ ॥